

# आर्यापञ्चशती

आचार्य डॉ. जयमन्त मिश्र



# आर्यापञ्चशती

आचार्य डॉ. जयमन्त मिश्र



1770  
1771  
1772  
1773  
1774  
1775  
1776  
1777  
1778  
1779  
1780

# आर्यापञ्चशती

रचयिता

आचार्य डॉ. जयमन्त मिश्रः

व्याकरण-साहित्याचार्यः, एम. ए., पी-एच. डी., पूर्व कुलपतिः, कामेश्वर सिंह दरभङ्गा संस्कृत विश्वविद्यालयः, पूर्व विश्वविद्यालय-प्राचार्यः संस्कृत विभागाध्यक्षश्च बिहार विश्वविद्यालयः, मुजफ्फरपुरम्, राष्ट्रपति-पुरस्कार-सम्मानितः साहित्य अकादमी पुरस्कार-सम्मानितश्च ।

इन्दिराप्रकाशनम्, दरभंगा



*Published with the financial assistance from the  
Rashtriya Sanskrit Sansthan, New Delhi.*

# आर्यापञ्चशती

ĀRYĀ PAÑCHASĀTĪ

by

**Professor Dr. Jayamanta Mishra**

© Indira Prakashan  
Hanuman Ganj  
Mishra Tola, Darbhanga-846004  
First Edition - 2001  
[ 1,000 copies ]

**Price : Rs. 100/- (Rupees One Hundred only)**

**मुद्रक :**

**लोकवाणी प्रिंटिंग प्रेस**

डी० एन० दास लेन, लंगरटोली

पटना-800 004

दूरभाष : 674928

## समर्पणम्

मुदा चतुर्णाम् धाम्नाम्

ज्योतिर्लिङ्गानाञ्च द्वादशानाम् ।

सप्तानाञ्च पुरीणाम्

प्रमुखाणां सर्वतीर्थानाम् ॥ १ ॥

समर्च्य सकलान् देवान्

श्रद्धा-भक्ति-पुरस्सरं सर्वत्र ।

आत्मानं कृतकृत्यम्

योऽमन्यत जीवनं सफलम् ॥ २ ॥

ततश्च महतो योगाद्

धर्मेश्वर-शर्व-सन्निधौ काश्याम् ।

सविधि जपं गायत्र्या-

लक्षाणां हि चतुर्विंशतिम् ॥ ३ ॥

कर्तुं कृत-संकल्पो-

ध्यायन् हृदि वेदमातरं देवीम् ।

एकपदाश्रित-भूमिः

अजपन्मन्त्रं यताहारः ॥ ४ ॥

अशन-वसन-धन-दानैः

सेवनं विपन्नानां व्रतं यस्य ।

जीवनलक्ष्यमिहासीन्-

निरतं माधवमनुस्मरतः ॥ ५ ॥

परम-पूज्याय पित्रे

सर्वनारायणमिश्राय महते ।

समर्प्यते तत्स्मृत्याम्

“पञ्चशती” नत-जयमन्तेन ॥ ६ ॥

1875

1875

1875

1875

1875

1875

1875

1875

1875

1875

1875

1875

1875

1875



अनन्तश्री विभूषित-पूर्वाम्नाय-गोवर्द्धनमठ, पुरीपीठाधीश्वर श्रीमज्जगद्गुरु  
शङ्कराचार्य स्वामी श्रीनिश्चलानन्द सरस्वतीजी महाराज की

## शुभाशंसा

॥ श्री हरिः ॥

॥ श्री गणेशाय नमः ॥

वेदादि शास्त्रों के प्रमुख प्रतिपाद्य धर्म और ब्रह्म हैं। प्रत्यक्षादि इतर प्रमाँ से अनधिगत होने से धर्म वेदैक समधिगम्य है। स्वर्ग और अग्निहोत्रादि में साध्य-साधन भाव प्रमाणान्तर से अनधिगत और अबाधित है। धर्म अनुष्ठेय अर्थात् भाव्य है। यज्ञ, दान, तप, सत्यादि की सिद्धि अनुष्ठान-सापेक्ष है। यज्ञ, दान, तप और सत्यादि का फल लौकिक-पारलौकिक उत्कर्षरूप सुखद जीवन की समुपलब्धि है। निष्काम भाव से समनुष्ठित धर्म का फल अन्तःकरण की शुद्धि और समाधि है।

धर्म के अनारम्भ और धर्म-त्याग पर्यवसान यज्ञादि और सत्यादि-विहीन जीवनमें सुनिश्चित है। यज्ञादि और सत्यादि-विहीन नर के जन्म का पर्यवसान देहत्याग के अनन्तर नरक-यातना और विविध नारकीय (नरकतुल्य) पशु, पक्षी, कीट और तरुलता गुल्मादि शरीरों की प्राप्ति है।

सच्चिदानन्दस्वरूप ब्रह्म सिद्ध अर्थात् भूत होने से अनुमानादि प्रमाण-गोचर कहा जा सकता है। परन्तु विधुर परिभावित कान्ता-साक्षात्कार तुल्य भावुकों की कोरी भावुकतासे समुद्भूत ब्रह्म (ईश्वर) प्रमाण-सहिष्णु नहीं। अतएव प्रमाण-सहिष्णु मनीषियों का भजनीय भी नहीं। अनुमानैक समधिगम्य ईश्वर अनुमानसिद्ध अग्नितुल्य अर्थ-

क्रियाकारी भी नहीं। परिशेषन्याय से अतीन्द्रिय अर्थ के प्रतिपादक वेदैक समधिगम्य ब्रह्म वेदादि शास्त्र-सम्मत अतएव आगमिक युक्तियों के द्वारा समधिगम्य होने पर भी वेदैक समधिगम्य ही मान्य है।

सच्चिदानन्द स्वरूप ब्रह्म स्वरूपभूता वह्निनिष्ठा दाहिका शक्तिसदृश स्वनिष्ठसन्धिनी, संवित् और ह्लादिनी शक्तियों के योग से स्थावर-जङ्गमात्मक विश्वका उत्पादक, पालक, संहारक, निग्रह और अनुग्रहकारक सिद्ध होता है। शक्ति कार्यानुमेया होती है। विविध कार्यों को देखकर कारण गत विविध शक्तियों का अनुमान होता है। जिस प्रकार अङ्कुरादि-उत्पादिनी-शक्ति-विशिष्ट सामग्रीरूप पाटलादि बीजमें कंटक और पत्तियों को उत्पन्न करने की शक्ति से विलक्षण शक्ति के द्वारा पराग-मकरन्द युक्त पुष्पका प्रादुर्भाव होता है, उसी प्रकार मायाशक्ति-विशिष्ट सर्वेश्वर में पृथिव्यादि जड़ प्रपञ्च और उद्भिज्जादि स्थावरजङ्गम जीवों को जन्म देने की शक्तिसे विलक्षण शक्ति के द्वारा सर्वेश्वर का श्रीकृष्णादिरूप से अवतार होता है।

गुलाब, गुलाब जामुनादि परमात्म चैतन्य से अधिष्ठित प्रकृतिरूपा माया के चरम विलास हैं। प्रकृति शब्दादिकी बीजावस्था है। आकाश शब्दाश्रय है। तेज शब्द-स्पर्श-रूपाश्रय है। जल शब्द-स्पर्श-रूप-रसाश्रय है। पृथ्वी शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्धाश्रय है। गुलाबादि में शब्दादि पञ्चविध भोग्य-सम्पदा सन्निहित है।

इस प्रकार शब्दादि समग्र-विशेषताओं से विभूषित ईश्वराधिष्ठिता प्रकृति के चरम विकास गुलाबादि हैं, परन्तु चरम विकास के साथ-साथ चरम विकार भी हैं तथा कर्मफलात्मक होने से स्वल्प भी हैं। पूर्ण निर्विकार और पूर्ण निर्विशेष होने के कारण ब्रह्म भोग्य-भोक्तृ-

भाव विवर्जित है। ऐसी स्थिति में विशेषता की पराकाष्ठा, पूर्णता और निर्विकारता की पराकाष्ठा ही जीव की तृप्ति का केन्द्र बिन्दु संभव है।

विशेषता, पूर्णता और निर्विकारता की पराकाष्ठा ही श्रीराम-कृष्णादि तत्त्व हैं।

‘एकञ्ज्योतिरबूद द्वेधा राधामाधवरूपकम्’

‘तस्माज् ज्योतिरभूद्द्वेधा राधामाधवरूपकम्’

इस सम्मोहन तन्त्र और वेद परिशिष्ट के अनुसार वेद-विद्य सर्वेश्वर की ही श्रीराधामाधवरूप से अभिव्यक्ति सिद्ध है। राधा-माधव में तत्त्वतः ऐक्य नहीं; अपितु राधामाधव एक ही तत्त्व हैं।

महासर्ग के प्रारम्भ में बहुभवन के लिए ईक्षण-कर्ता को महाप्रलय में अवशिष्ट ब्रह्मस्वरूप स्वीकार करना सार्वभौम सिद्धान्त है। गुण-क्षोभ के अनन्तर ईक्षण और ईक्षणकर्ता तत्त्वान्तर परिणाम नहीं, अतएव विकार भी नहीं। इसी प्रकार अवतार-विग्रह महदादिकोटिका विकार नहीं। जल स्वनिष्ठ अनागन्तुक शैत्य की प्रगल्भता से हिमादिरूपसे विकसित होता है। हिमाद्रिका निमित्त ही नहीं; अपितु उपादान भी जल ही सिद्ध होता है। तद्वत् अवतार-विग्रह की निर्विकारता सिद्ध है। निर्विकार होने से अवतार-विग्रह की पूर्णता सिद्ध है।

अवतार-विग्रह में समता, असंगतादि गुण-गण गुण-परिणाम नहीं। समस्वरूप परमात्मा में समता, असङ्गस्वरूप परमात्मा में असङ्गता स्वरूप भूत ही है; न कि गुणों के परिणाम भूत। समता, असङ्गतादि गुण-गण सम, असङ्ग परमात्माके प्रकारान्तर अभिव्यञ्जनमात्र हैं; न कि सत्त्वादि गुणों के परिणाम।

ह्लादिनी शक्ति की प्रधानता से श्रीकृष्णावतार की सम्पन्नता उसकी



सर्वोत्कृष्टता सद्ध करती है। लीला पुरुषोत्तम श्रीकृष्णचन्द्र ने उद्भिज्ज, स्वेदज, अण्डज और जरायुज तथा मनसिज एवं स्वयम्भू सर्ग के प्राणियों को अद्भुत आनन्द प्रदान कर तृप्त किया। यह तथ्य श्रीमद्भागवतादि के अनुशीलन से सिद्ध है। भारतवर्ष में श्रीकृष्णावतारादि होने से तथा भारतवर्ष भोग भूमि ही नहीं; अपितु कर्मभूमि भी होने से सर्वोत्कृष्ट है।

‘आयपिञ्चशती’ नामक लघु काव्य पण्डित प्रवर श्रीजयमन्त मिश्र महाभाग द्वारा विरचित है। यह उक्ताशय से परिपूर्ण है। इसका आद्योपान्त अनुशीलन सुख-प्रद है। यह लघुकाव्य भौगोलिक, ऐतिहासिक, सामाजिक, दार्शनिक, साहित्यिक आदि सर्वदृष्टियों से सुसम्पन्न होने से प्रशंसनीय है। इसमें ईश्वरका स्वरूप, अवतार रहस्य, श्रीराधामाधव का लोकोत्तर महत्त्व, उद्भिज्ज, स्वेदज, अण्डज, जरायुज, मनसिज और स्वयम्भू प्राणियों का उत्तरोत्तर उत्कर्ष तथा विश्व में भारत की स्थिति एवं महत्तादि महत्त्वपूर्ण विषयों का प्रसन्न और गम्भीर शैली में प्रतिपादन है। भगवत् कृपा से इसे स्वोचित स्थान सुलभ हो, ऐसी भावना है।

निश्चलानन्द सरस्वती

१०.९.२००९

## INTRODUCTION

The present work "ĀRYĀPĀÑCĀŚATĪ" is mostly concerned with our earth, the third planet in order from the Sun. It is the matter on the surface of the Globe in which plants are rooted and all the worldly creatures live and get their livelihood. Almost all the things required for living beings are provided by the earth. Though, it is the main recourse of our lives, we know very little about it.

The scientists of the day say that our present earth is 4-6 billion years old. Its weight is about six thousand million millions tons. Its diameter from Pole to Pole through its centre is 7926 miles (12756 km), across the Equator through the Earth's centre is 7927 miles (12757 km).

The area of water : about 139500,000 square miles (361 million square km), comprises 71 percent. The remaining 29 percent is the area of land about 57,400,000 square miles 149 million square km). Its volume consists of 4440064 million cubic miles (1084000 million cubic km).

Inside the Earth there are three parts :—

1. Core, 2. Mantle, 3. Crust :

- I. The Earth's outer core lies below the mantle and above the inner core. It is 1400 miles (2440 km) thick. The outer core is made mainly of metals under enormous pressure and so hot they are molten (melted). Four fifths of it may be iron and nickel. The rest is probably silicon. (It is a substance, silicon chips are tiny pieces of the elements called silicon).
- II. The inner core is a solid ball, about 1516 miles 2440 km) across, like the outer core, it may be mainly made of iron and nickel. The core temperature is 6692F (FAHREN HEIT) 3700 celsius and pressure there is 1900 tons per square inch 93800 tons per square cm (CENTIMETRE).
- III. The mantle lies beneath the crust and above the outer core. It is nearly 1800 miles (2900 km) thick. This portion of the Earth is made up of hot rocks. Temperature and pressure here are lower than in the core. Even so, much of the mantle rock is semimolten.
- IV. The Crust is the Earth's solid outer layer. It is up to



20 miles (32 km) beneath mountains, but only  $3\frac{1}{4}$  miles (6 km) thick under the oceans. Its rocks float on the denser rocks of the mantle.

This description in short, gives the clear idea of the different materials of the Earth on which all sorts of species originate, exist, grow, change decay and end.

The Earth enormously large and weighty, always rotating round the Sun from the West to the East, provides nutritive things to all inhabitant living beings on its surface.

All these living beings found on the earth, have been categorized in the four classes :

1. UDBHIJJA—A sprouting plant :
2. SWEDAJA OR VIKĀRAJA—generated by sweat rotten soil etc.
3. ANDAJA—Germinating from egg and oval body.
4. JARĀYUJA—Viviparous born from the womb.

(a) Animal (Quadruped) (b) Rational animal (mankind).

These five kinds of living bodies, which are made-up of five basic elements, Earth, Water, Fire, Air and Ether are sustained with pancakos' as : the five Vistures-sheaths or

cases which successively make the body, enshrining the soul.

- I. The first one is ANNAMAYA KOŚA—the earthly body sprouting plant. This is the prime constituent of animated object. Plants have also animation, hence it is called plant life.
- II. The second PRĀNAMAYA KOŚA—the viture of the vital airs, alongwith the Annamaya-kos'a generates SWEDAJA, Caused by sweat, rotten thing etc. like lice-egg, louse, small insects, etc.
- III. The third MANOMAYA-KOŚA, the sensual viture, alongwith the first and second kos'as, brings into being UNDAJA, generating from egg like snakes, birds etc.
4. The fourth VIJÑĀNAMAYA-KOŚA; the cognitional viture accompanied by the above said three kośas, produces JARĀYUJA-Viviparous, born from the womb, like (A) quadruped animal and together with-these four kosas.
5. The fifth ĀNANDAMAYA-KOŚA, the last viture, that of Beatitude bringsforth.

(B) Rational animal-mankind, the highest species of Beings on the Earth.

According to the UPANIṢADS, Mahābhārata and Purāṇas

(for its details see my prabandha-kusumāñjali P—289-293)

The Supreme Being—PURUṢOTTAMA—has sixteen kalās. His kalā is a power of creation. His first five kalās, as five kośas mentioned above, cause inanimate and animated ones as described above. In this succession the man is on the fifth position, the highest one. He may, by performing the virtuous duty, gradually ascend the eighth step-kalā and achieve summum-bonum, the highest-purpose of human life. In order to obtain this Kalā that is Dharma-Eternal Religion. Due to the sixth Kala one gets the seventh kala, that is ABHYUDAYA-wordly and heavenly happiness.

Modern scientists, following Darwinism : Theory of the origin of species more or less accept the doctrine of the PAÑCA-KOŚA, without respecting the Supreme power and the personal soul enshrined in the human body and imparting to it life, motion and sensation.



The present work 'ĀRYĀPAÑCĀSĀTĪ' deals with all these matters in the planned way in its five sections.

The work mainly emphasizes the fact that according to one's own KARMA-action-it takes the specific body and particular species of life beginning with plant life and rising through insects, reptiles, birds, animals to the human-beings, demigods and ultimately Supreme Being. According to the desire and action the living entities perpetually take birth in these forms.

A famous Sufi poet, Jalalu 'D-Din' Rumi supporting this view writes :

I died as mineral and became a plant,

I died as a plant and rose to animal,

I died as animal and I was man

Why should I fear ? When was I less by dying ?

Our eternal Vedic Scriptures confirm that the soul according to its identification with material nature, takes one of 8400000 forms and, once embodied in a certain species of life, evolves automatically from lower to higher forms ultimately attaining a human body and, further gradually ascending, attains the state of perfect Divine

knowledge, discontinues the cycle of birth, death and rebirth, and arrive at the highest place which is the Pure-Blissful abode of Supreme God, the highest-goal of human life.

The Bhagvadagītā (7.19) also justifying this fact says :  
At the end of many lives, the man of wisdom resorts to Me, knowing that Vāsudeva (the supreme Lord of the life which dwells in all and is the support of all) is all that is such a great Soul is very difficult to find.

As soon as Vāsudeva, the Supreme Lord is realized the cycle of birth, death and rebirth is broken and, the problem of incarnation in the different-species is totally removed.

In the present work, 'ĀRYĀPANCASĀTĪ' all these matters have been described directly or indirectly.

In the first and second sections of the work, the LĪLĀS of the Lord Vāsudeva Kṛṣṇa have been depicted. The significance of the Līlās have been indicated.

In the third and the fourth sections evolution of the species and their characteristics have been fully enumerated.

In the fifth one miscellaneous matters, observed in

native and foreign, places, have been described in poetic form.

It is a crystal clear fact that the body without the soul is a corpse and the soul without a body is a ghost. So the proper balance between these two is required. The soul-*Jīvatma* is the master. The body is acting under His guidance. If the body materialistic physical side-acts ignoring the Supreme spiritual side, there becomes a struggle, conflict, anarchy and restlessness all over the society. Therefore, for the fortune, victory, welfare and morality, the proper cohesive blending of materialism and spiritualism both is absolutely necessary. This is the centrality of the eternal Dharma, that is the final teaching of the *Gītā*; wherever there is Kṛṣṇa, the Lord of Yoga and Pārtha (Arjuna), the archer, there will surely by fortune, victory, welfare and morality.

This is the only way of obtaining the lofty ideals of the human beings to experience the permanent peace all over the world.

## अवतरणिका

नहि कश्चित् क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत् ।

शरीरवति जीवे जगति जीवति सति जानन्नजानन्ननवरतं स किमपि न किमपि करोत्येव । श्वसिति, निःश्वसिति, स्वपिति, जागर्ति, निषिमति, उन्मिषति, स्पृशति, जिघ्रति, शृणोति, रसयति, जंपति, नदति, गदति, प्रलपति, विलपति, हसति, रोदिति, क्रन्दति, उत्सृजति, मेहति, चरति, स्विद्यति, आचरति, शोचति, पठति, लिखति, चिन्तयति, विचारयति, विवेचयति, ध्यायति, जपति, भजति एवं विधानि विविधानि कर्माणि स कुर्वन्नेव यावज्जीवनं जिजीविषति । कर्माकुर्वन् नैव स्थातुं शक्नोति ।

विकसितेषु जीवेषु सुजनः श्रेष्ठो मानवोविधिवत् सुकृतं कुर्वन् प्रेयः श्रेयश्च समवाप्नोति, दुर्जनश्च दुष्कृतं कुर्वन् दुखं निरयञ्चाधि-गच्छति ।  
उक्तञ्च—

यः खलु सुकृतं कुरुते, भद्रत्वं तस्य जायते लोके ।

दुष्कृतिनो नीचस्यतु, मन्दत्वं गीयते सर्वैः ॥

सतां, महतां, सदाचारवतां, साधूनां सत्यपुरुषाणां, लोकद्वय-साधन-चतुराणाम्, केशवानुस्मरण-सहित जीवनयुद्ध-निरतानाम्प्रज्ञावताम् जीवन-रथ चक्रं सुपथेन चलत् पुरुषार्थ-चतुष्टय-सोपानमधिरोहत् परम-प्रयोजन-शिखरमधिगच्छति; असत्पुरुषाणां मन्द-भाग्यानाञ्च कुपथेन इतस्ततो भ्रमत् मोहान्धकार-महागते निपतति ।

कश्चिद् बुद्धि-विवेक-प्रग्रहेण विषयेषु प्रधावत इन्द्रियाश्वान् निगृह्य सिद्धियोगराजमार्गं रथं वाहयति, गन्तव्यस्थलं च समवाप्नोति । कश्चिच्च मति-विवेकरहितः विषयेषु यदृच्छया विचरद्भि रन्द्रियाश्वैरेव निगृहीतं रथमारुहन् क्व गच्छतित्यजानन् उत्पथेन क्लेशकरं स्थानं प्रविशति ।

भव्य कालो महता वेगेन प्रवहता भवतोमार्गेण भूते प्रविशति । भूत-भव्ययोः कालयोरधिकाराभाषात् केवलं वर्तमान एव मानवाना माश्रयः । अयमेव स्व-समयो मनोहरेण स्व-पर-हित-करेण विचारेण सदाचारेण च समराधनीयः समलंकरणीयश्च । अस्मिन्नेव निज काले रोपितस्य मधुरतरुवरस्य कालचक्रेणभ्रमन् मानवो भविष्यति मधुर फलं रसयति । योहि कण्टकवृक्षं रोपयति स भविष्यति कण्टकेनैवाविद्धो भवति । भूत-भव्य-भवन्नाथः जगच्चक्षुः सर्वं सम्यक् पश्यन् तत् कार्मानुरूपं फलं वितरति । यतोहि-

“समोऽहं सर्वभूतेषु नमे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः ।

ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम् ॥”

इत्यास्ते तस्य समुद्घोषः ।

‘आर्यापञ्चशती’ काव्यस्य इदमेव मूलं तत्त्वं सूत्रस्थानीयम्, यत् विविधरङ्ग-रञ्जितैः सुमनोभिर्विरचिताम् अमलदल-विलसितां मनोहरां मालां संग्रह्णाति ।

विविध-पद्य-प्रसून-गुम्फिताभिः पञ्चमिर्मालाभिर्विभूषितस्य काव्यस्य प्रथममालायाम्-मङ्गलाशंसनम्, पुरुषोत्तमश्रीकृष्ण-परमैश्वर्यम्, भारतवर्षमाहात्म्यम्, आर्यावृत्त-वैशिष्ट्यम्, स्वात्मनिवेदनञ्चरेयेतद् विषयक-पद्य-कुसुमानि गुम्फितानि सन्ति ।

“तद्धि वागजन्मसफलम्, यद्गायतिगुणगणं युगलमूर्तेः ।

यस्य तत्रमौनित्वम्, जीवनंहि निरर्थकं तस्य ॥”

इत्येवं मन्यमानेन द्वितीयमालायाम्-परमपुरुष-वसुदेवनन्दन-श्रीकृष्णावतार-गोकुललीला-वृन्दावनलीला-मथुरालीला-द्वारकालीला-विषयक-पद्य-पुष्पाणि ग्रथितानि विकसन्ति । करुणा-वरुणालयो भगवान् वासुदेव-श्रीकृष्णचन्द्रः समस्त प्राणिजातस्य कल्याणाय अवतार-लीलां विद्धाति किमपि विशिष्ट-प्रयोजनं च साधयति । पृथिव्याद्यष्टरूपात्मिकायाः प्रकृतेः व्यस्त-समस्त-रूपाणाम् तत्त्वशोधनम् आभिव्यवहारिक-लीलाभिर्विदधाति । तत्र मृद्भक्षण-नवनीत-भक्षण-लीलया पृथिवी-शोधनम्, कालिय-दमन-हृद-



परिशुद्धि-लीलया जल-शोधनम्, दावानल-पान-लीलया तेजःशोधनम्, तृणावर्तौद्धार लीलया वायुतत्त्वस्य, व्योमासुरोद्धार-लीलया आकाशस्य, गोवर्धन-धारण-लीलयामनश्चित्तयोः ऊलखल-बन्धन-लीलया बुद्धेः, अघासुरोद्धार-लीलया अहंकारस्य, गो-गोपाल-हरण-लीलया महत्तत्त्वस्य, पूतना-वध-लीलया अविधारूपाव्यक्तस्य, गोपी वस्त्रापहरण-लीलया मायायाः, अष्टधा प्रकृति रूपया गोपाङ्गनया सहारासलीलया जीवेश्वर-द्वैतभावस्य च शोधनम् भवति ।

‘रसोवैसः’ इति श्रुत्यनुसारेण रसेश्वरो-राशेश्वरः भगवान् रासलीलायाम् उत्पत्ति-स्थितिलयानाम् लीला विदधाति । (१) उत्पत्ति प्रक्रियया रसेश्वरो भगवान् स्वस्यैवरूपस्य विविधरूपेषु विविध व्यक्तिषु च अभिव्यक्तिं करोति । एतदेव निर्दिशति श्रीमद्भागवतम्—

“कृत्वा तावन्तमात्मानं यावतीर्गोपयोषितः” (१०/३३/२०)

(२) स्थितिप्रकृतिकलीलया रसेश्वरस्य स्वस्यैव शक्तेः ब्रजाङ्गनासु, आत्मस्वरूप-राधा-गोपिकासु अभिव्यक्तिर्जायते । यथानिर्दिशति गोपालतापिन्याद्युपनिषद्—

“एकञ्ज्योतिरभूद्द्वेधा राधामाधव रूपकम् ।”

आत्मारामस्य कृष्णस्य ध्रुवमात्मास्ति राधिका ।

तस्याएवांश-विस्ताराः सर्वाः श्रीकृष्ण-नायिकाः ॥”

(३) लयप्रकृतिकलीलाया अभिव्यक्तिरपि रासलीलायां स्पष्टं समवलोक्यते । यथाहि शिशुः स्वस्थ छायायासह निर्विकारं क्रीडति, हृष्यति, प्रमोदञ्च आवहति, तथैव रसेश्वरो राधारमणो भगवान् आत्मारामः स्वस्यैव छायारूपया ब्रजाङ्गनया सह विविधरूपेण क्रीडति, हृष्यति, स्वानन्द मनु भवति, स्वेच्छया आत्मस्वरूपे सर्वं समुपसंहरति । एतत् सूचयति श्रीमद्भागवतम्—

“एवं परिष्वङ्ग-कराभिमर्श-

स्निग्धेक्षणोद्दाम-विलास-हासैः ।

रेमे रमेशो ब्रजसुन्दरीभि-

र्यथार्भकः स्व-प्रतिबिम्ब-विभ्रमः ॥” (१०/३३/१७)

एवंहि श्रीकृष्णावतार-बाल-लीलारहस्यं परिभावनीयम् मनसिच  
निधानीयम् ।

तृतीयमालायाम्—अचेतनोद्भिज्ज-स्वेदजाण्डज-जरायुज-पशु-मनुज-  
प्राणि-विषयकाणि अन्योक्ति-रूपाणि पद्य-सुमनांसि सूत्रितानि विलसन्ति ।  
तुरीयमालायाम्—प्रकीर्ण-विषयक-पद्य-प्रसूनानि चाकासति ।  
पञ्चममालायाम्—पुरातनाधुनातन-विविध-विषय-सम्बद्धानि पद्य-सुमानि  
सुरभितानि शोभन्ते ।

“सन्निवेश-विशेषात्तु दुरुक्तमपि शोभते ।

इत्याचार्य-मामह-वचः संस्मरता माला-सौन्दर्यं विनिध्यायता सुमनांसि  
सन्निवेशितानि । संभाव्यते-देश-विदेश-समवलोक्ति-विषयजात-संजातानु-  
भवजन्य-चित्रितानि कतिचिच् चित्राणि विपश्चितश्चित्रीकरिष्यन्ति ।

भारत-स्वातन्त्र्य-स्वर्णजयन्ती-वत्सरावसरे निदाघान्ते आरोपित बीजा  
“आर्यापञ्चशती”—कृतिलता वर्षर्तौ प्रवर्द्धमाना कुसुमिता सुफलितासती  
शारदपूर्णिमायां पूर्णवल्लरी समभवदिति महत् प्रमोद-स्थानम् ।

वसु-निधि-रत्न-सुधांशौ, शर-बाण-व्योम-युग्मके शरदि ।

ऐशव-वैक्रम-वर्षे, पूर्णाऽऽर्यापञ्चशती कृतिः ॥

विश्वसिमि—

“सरसिज-कुङ्मल-कृत्यं बहिरागमनंहि केवलं नीरात् ।

विकसन-शोभाऽऽधानं चैतत् कृत्यं दिनकरस्य ॥

परहित-कृद् दिनकर्ता सर्वं दधाति मुकुले निरपेक्षः ।

पर-गुण-दर्शक-सदयः सहृदयवयस्तद् विधास्यति ॥” इति ।

## विषयानुक्रमणिका

### अनुक्रमाङ्कः

### पद्य क्रमाङ्कः

- |    |   |         |
|----|---|---------|
| १. | समर्पणम्  | iii     |
| २. | श्रीमज्जगद्गुरु शङ्कराचार्य निश्चलानन्द स्वामिनः शुभाशंसा   | v       |
| ३. | Introduction  | ix      |
| ४. | अवतरणिका  | १       |
| ५. | प्रथम-माला  | १-१०३   |
|    | मङ्गलम्, श्रीकृष्णस्य भगवत्त्वम्, शरणत्वम्, माधुर्यम्, ऐश्वर्यञ्च ।   |         |
|    |   | १-४३    |
|    | भारतम्—तस्य स्वरूपम्, नग-नदी वैभवम्   | ४४-८५   |
|    | प्रसिद्धाः सप्तपुर्यः, एकादश ज्योतिर्लिङ्गानि, चत्वारि धामानि,<br>त्रिकोणात्मिकाः शक्तयः, प्रसिद्धदर्शनानि, प्रसिद्धदर्शनकाराः,<br>राष्ट्रयिध्वज-चिह्न-खग-पुष्पादर्शाः, भारतेतिनाम-रहस्यम् ।<br>आर्यावृत्तस्य वैशिष्ट्यम्<br>शक्ति-व्युत्पत्त्यभावेऽपि अनुकूलदेवाभ्यासयोर्बलात् कविकर्मणि<br>साफल्यम् । | ८६-१०३  |
| ६. | द्वितीय-माला—   | १०४-२२४ |
|    | श्रीकृष्णस्य जन्मलीला, गोकुल-लीला, वृन्दावन-लीला, मथुरा-<br>लीला, द्वारका-लीला, विशुद्ध-प्रेम-प्रदर्शन-लीला ।   | २१      |

७. तृतीयमाला—

२२५-३४५

४३

(क) सृष्टि-प्राणि-विकास-प्रक्रियायाम्-अन्योक्ति-शैल्या-नीरम्

(ख) उद्भिज्जेषु-कमलम्, पङ्कजम्, कुशः, कपिकच्छुः, लज्जावती, तरुः, शाखोटकः, दूर्वा, अश्वत्थः, वटः, कदम्बः, शिंशपः, शालः, गभारिः, सहकारः, वनस्पतिः, बिल्वः, करीलः

(ग) स्वेदजेषु-चर्मोकाः, लिक्षादयः

(घ) अण्डजेषु-यूका, मत्कुणः, उद्दंशः, मशकः, जलूका, लूता, मधुकरः, मधुपः, जलशुक्तिः, मीनः, कच्छपः, कर्कटः, शङ्खः, मकरः, तिमिङ्गिलः, तिमिङ्गिलगिलः, राघवः, दर्दुरः, बकः, हंसः, गरुडः, उरगः, विहगः, मूषिकः, मधुमक्षिका, भ्रमरः, शुकः, कोकिलः, काकः, उलूकः, चातकः।

(ङ) जरायुज-पशुषु-नकुलः, वस्तः, मृगराजः, खरः, वैशाखनन्दनः, रासभः, शूकरः, बलीवर्दः, गौर्गलिकः, कपिः, धेनुः, मातङ्गः, मृगः, मार्जारः, कुक्कुरः, जम्बूकः, शशकः।

(च) जरायुज-मनुजेषु-मतिमान्, मूर्खः, दीनः, सत्पुरुषः, नीचः, सन्तोषी, पिशुनः, कुलदीपः, खलः, साधुः, सुजनः, दुर्जनः, मानवः, महामानवः।

## अनुक्रमाङ्कः

## पद्य क्रमाङ्कः

८. चतुर्थमाला—

३४६-४४८

७९

विविध-विषय-सम्बद्धानि प्रकीर्णपदानि, प्राचीनार्वाचीन-स्थिति-परकाणि पद्यानि ।

९. पञ्चममाला—

४४९-५००

८९

देश-विदेशयोर्भ्रमण-प्रसङ्गे, दृष्ट-वस्तु-विशेष-विषयकाणि पद्यानि ।  
आधुनिक-चतुर-चिकित्सकः आधुनिकश्चतुरोऽधिवक्ता, धर्मनीति-सम्बन्धः, वयोवृद्धात् ज्ञानवृद्धः श्रेयान्, पाश्चात्य-भोगवाद-कुपरिणामः, ज्ञान-विज्ञानयोः समन्वयः, अद्य सम्पाद्य-कार्यस्य महत्त्वम् । ज्ञान-कर्मणोः सामञ्जस्येनैव-कृष्णार्जुनयोः परस्पर-सम्बन्धेनैव-मानवजीवन-साफल्यम् ।

१०. परिशिष्टे—

१०९

क. गायामिगीतानि रसाश्रयाणि

१. माधव ! मामुद्धर निजदासम् ।

२. मानस ! पिबरे श्यामरसम् ।

३. मालति ! अवरोधय निजबालम् ।

४. राधिके ! राधय त्वं मुदा माधवम् ।

५. राधे ! राधय नन्द-कुमारम् ।



## अनुक्रमाङ्कः

## पद्य क्रमाङ्कः

६. माधव ! त्वं नहि 'याहि विदेशम् ।  
 ७. माधव ! स्मरसि न गोकुल-वासम् ।  
 ८. उद्धव ! याहि, कथय व्रजबालाम् ।  
 ९. उद्धव ! मधुरापति-सन्देशम् ।  
 १०. उद्धव ! स्मारय प्रेम-विधानम् ।  
 ११. उद्धव ! याहि कथय यदुनाथम् ।  
 ख. आर्यापञ्चशती-सूक्तानि  
 ग. आर्यापञ्चशती-प्रयुक्तानिगूढार्थक-पदानि

# आर्यापञ्चशती

सरसौ सालङ्कारौ

सगुणौ सहितौच रीति-वृत्तिभ्याम् ।

शब्दार्थाविव सुयुजौ

राधाकृष्णौ सदा जयतः ॥ १ ॥

सच्चिन्मय-स्वरूपं

नित्यानन्दं परात्परं भव्यम् ।

राधा-मुकुन्द-युगलं

भक्त्या देवं गुरुं वन्दे ॥ २ ॥

एकाकी नहि रमते

आत्मारामोऽपि राधिका-रमणः ।

परमाराध्यांराधाम्

प्रकटीकुरुते स्वतो भगवान् ॥ ३ ॥

प्रेमविषयिणी भक्तिः

परमा लोकेऽस्ति, शिक्षितुं चैतत् ।

पूर्णात्मा परमेशः

एकात्मानं द्विधाकुरुते ॥ ४ ॥

आत्मारामो भगवान्

कृष्णस्तस्यास्ति राधिका स्वात्मा ।

तस्या अंश-विकासाः

सन्त्यन्या वल्लभास्तस्य ॥ ५ ॥

तत्त्वाद् भेदाभावे

भेदं यो मन्यतेऽनयोर्मध्ये ।

स जनो नास्ति विवेकी

ह्युपनिषदां तत्त्वमेवैतत् ॥ ६ ॥

योऽर्चति कृष्णं रूपम्

विना समर्च्यं हिरण्मयं तेजः ।

स भवति खलु पातकवान्

निगदति तद् वैष्णवं शास्त्रम् ॥ ७ ॥

को जानीयादेतत्

परमं तत्त्वं परात्मनः पुंसः ।

यस्मै कृपां स कुरुते

सहि वेत्त्येवं परं गुह्यम् ॥ ८ ॥

वंशीधर ! त्वन्माया-

मोहित-सुमतेर्विमतेश्च को भेदः ? ।

तमसावृत-नयनाना-

मुन्मीलन-निमीलने तुल्ये ॥ ९ ॥

तमः प्रकाशौलोके

यथा प्रसरतो भानुमतो वशतः ।

मनुजे कुमतिः सुमतिः

भगवन् त्वन्मायया भवति ॥ १० ॥

परमपुमान् श्रीकृष्णः

कृष्णं वन्दे जगद्गुरुंनिरतम् ।

कृष्णेनानुगृहीताः

सन्तोऽसन्तश्च निगृहीताः ॥ ११ ॥

श्रीकृष्णाय विभूम्ने

सर्ग-स्थिति-लय-कारणाय विभवे ।

नमोऽस्तु तस्मैमहसे

गोपीजन - वल्लभायमुदे ॥ १२ ॥

कृष्णात् परं न किञ्चित्

परमं तत्त्वं हि विद्यते लोके ।

कृष्णस्यैवहिसर्वं

विलसति किञ्च भूतले वस्तु ॥ १३ ॥

ध्यायन्नेवं त्यागात्

भोक्तव्यं जगति केवलं स्वीयम् ।

कृष्णे रतिर्ममास्तां

सफलं कृष्ण । मनोरथं कुरु ॥ १४ ॥

श्रीराधा शरणंमे

शरणं वसुदेव-नन्दनो देवः ।

शरणं गोकुल-नाथः

शरणं तस्य कृपा-सुधा सरित् ॥ १५ ॥

शरणं वृन्दा-वीथी

शरणं माधव-पाद-पद्म-रागः ।

शरणं द्वाराधीशः

शरणं पार्थ-सारथिः कृष्णः ॥ १६ ॥

कृष्णार्जुन-संवादः

शरणं तच्छुभ-संगमश्च सफलः ।

निरतं युगले भक्तिः

शरणं मे श्रेयसे भवतात् ॥ १७ ॥

कुरुतान्मनोरथं मे

पूर्णं तूर्णं हि सच्चिदानन्दः ।

व्रतमेतद्धितदीयं

शरणापन्न-रञ्जनं सततम् ॥ १८ ॥

जीवन-पथ-साफल्यं

यस्माज्जीवस्य जायते लोके ।

गोपी वल्लभ-चरणान्

शरणं मोदमयं-प्रपद्ये ॥ १९ ॥

माधुर्यस्यनिधानं

रत्नादर्शं निरीक्ष्य स्वरूपम् ।

राधा माधव-भावं

राधा-भावमीहते कृष्णः ॥ २० ॥



पश्यन्नवर्णनीयं

यूनोरेवं मनोहरं रूपम् ।

अन्यः को वर्णयते

मन्मथ-नाथः स्वयं मुग्धः ॥ २१ ॥

कुरुते योहि प्रयासं

त्वद् गुण-गणनां विधातु मिह भगवन् ।

गणयति रजांसि भूमे-

नैजं प्रदर्शयन् मौढ्यम् ॥ २२ ॥

नाथस्त्वमसि विभूते-

रखिलाया जगतीतले स्थितायाः ।

रङ्गः कथमनुमिनुयात्

माधव ! माधव ! तवैश्वर्यम् ॥ २३ ॥

प्रेमाम्बुधि-निष्णाता

पश्यन्ती-प्रेम-सागरं मग्ना ।

उभयोस्तरङ्ग-मध्ये

पतिता काचित् परानन्दा ॥ २४ ॥

प्रिय-सुख-सुखित्वमात्रं

परम-प्रेम-स्वरूप-काष्ठायाः ।

राधा-माधव-भावे

परमाप्रीतिस्तु सैवास्ति ॥ २५ ॥

सहजा चेयं प्रीतिः

उपहारो नैव काम्यते त्वनया ।

यस्माददोऽपि पूर्णम्

पूर्णमिदं चापि सर्वत्र ॥ २६ ॥

एवंसति कः कस्मै

किंदद्याद्वस्तु यन्नतत्रास्ते ।

देयं नापिच नेयं

तस्मादस्मिन् महाप्रेम्णि ॥ २७ ॥

अष्टाभिः प्रमुखाभि-

र्ललितारङ्गादिभिर्वयस्याभिः ।

विविधाभिः सेवाभि-

निष्कामं सेव्यते युगलम् ॥ २८ ॥

जानन्त्येताः सेवा-

नाथं समाराधयन्त्युपकरणैः ।

आत्मारामः स्वामी

प्रीत्याऽऽमोदं च प्राप्नोति ॥ २९ ॥

नाथस्त्वमहमनाथ-

स्त्वं जगदीशोऽस्म्यहंच रङ्गेशः ।

दातात्वं याचकोऽस्मि

दानीयो दुर्लभश्चैवम् ॥ ३० ॥

कल्पतरो ! विश्वात्मन् !

पूरय दीनस्य मानसं भावम् ।

यायान्नान्यं शरणम्

मामूल्लोके तवाकीर्तिः ॥ ३१ ॥

तमासवृत-निज-चित्ते

कृष्णं पश्यन् यथाप्तवान् भीतः ।

अमितः परितो निकषा

कंसः प्रापसुगतिं भीत्या ॥ ३२ ॥

प्रेमानुरागवशतो-

गोप्यो वृन्दावनेविभोर्ध्यानात् ।

प्रापुः परमां सुगतिं

कृष्ण-प्रियता गतेर्बीजम् ॥ ३३ ॥

चेदिराज-शिशुपालः

सततं कृष्णं द्विषन् दधद्वैरम् ।

विदधद् विग्रहमनिशं

तद् दुर्लभ-विग्रहं प्रापत् ॥ ३४ ॥

वंशज-सम्बन्धाद्वा

कुलजाः सद्वृत्तिशालिनो नूनम् ।

प्राप्नुवन्ति प्रभु-कृपया

सुगतिं यथा वृष्णयोऽवापुः ॥ ३५ ॥

सख्य-स्नेहादपिवा

लोको लोके ऽज्जसागतिं लभते ।

पाण्डुनन्दनाः प्रापुः

सख्य-स्नेहाद् यथा कृष्णे ॥ ३६ ॥

भक्तजना अपि भक्त्या

भजमाना वसुदेवसुतं प्रीत्या ।

सुगतिं परां लभन्ते

शुक-सनकादि नारदा यद्वत् ॥ ३७ ॥

तस्माद् यत्तद् विधिना

कृष्णे ऽवश्यं समाश्रयेच्चित्तम् ।

यस्मात् सुगतिः सुलभा

कृष्ण-स्मरणाद् भवेन्नूनम् ॥ ३८ ॥

क्षीरं प्राप्य विकारं

धत्ते दध्नः स्वरूपतां यद्वत् ।

तद्वद् विष्णुर्धत्ते

शम्भुतां न तत्वतो भेदः ॥ ३९ ॥

दीपशिखा समवाप्यहि

दशान्तरं दीपरूपतां धत्ते ।

गच्छति धर्मे समतां

विष्णुर्विष्णुत्वमायाति

॥ ४० ॥

रामादीनां मूर्तिषु

कलाविशेषं निधाय यो विविधान् ।

अवतारान् स्वीकुरुते

परमः पुरुषः स्वयं कृष्णः ॥ ४१ ॥

प्रेमाञ्जन-कलिताभ्यां

श्रद्धा-भक्ति-लोचनाभ्यां सन्तः ।

श्यामसुन्दरं परमं

धन्या आत्मनि विलोकयन्ति ॥ ४२ ॥

अनलानिल-जल-पृथ्वी-

गगन-काल-दिगात्म-मनसां जगती ।

प्रभवति विभवति यस्मात्

प्रविशति यस्मिन् समे शरणम् ॥ ४३ ॥

★

★

★

यस्य शिरो नगराज-

श्चुम्बति, जिघ्रति स्नेहतः स्पृशति ।

शीतलयति सम्बलयति

भूषयते च रत्न-राशिना ॥ ४४ ॥

प्रक्षालयति च पादौ

यस्यहि कन्या कुमारिका सततम् ।

निर्मल-वारि-तरङ्गैः

वङ्गारव-हिन्द-जलधीनाम् ॥ ४५ ॥



पूर्वापरौ समुद्रौ

प्रसार्य बाहू निरन्तरं स्पृशतः ।

भारतमानमरवण्डं

यत् प्रीत्यै जायते ऽस्माकम् ॥ ४६ ॥

मन्दर-मलय-महेन्द्र-

प्रमुखा यत्र च कुलपर्वताः सप्त ।

विलसन्त्युन्नतशिरसो-

देवायतनाः प्रकाशन्ते ॥ ४७ ॥

गङ्गा-यमुना-कमला-

रेवा नन्दालका महानद्यः ।

विभवन्ति सुखेन यस्य

भूमिं शतशः प्रवहमानाः ॥ ४८ ॥

काशी काञ्ची मायाऽ-

योध्यावन्ती च द्वारका मथुरा ।

सप्तैताः सुरपुर्यः

यत्र लसन्ति मोक्षदायिकाः ॥ ४९ ॥

गङ्गा दक्षिण-भागे

विलसति देवालये चिताभूमौ ।

भक्तकामना-दायी

विषपायी शिववैद्यनाथः ॥ ५० ॥

काश्यां गङ्गा-सविधे

विश्वेशो विराजते शिवशम्भुः ।

अर्चयन्ति यं देवं

श्रद्धा - भक्ति - युतामुक्तये ॥ ५१ ॥

विलसन्नुहिमगिरि-शिखरे

देवः श्रीकेदारनाथो नाम ।

पूजयन्ति यं भक्त्या

राज्ये भव्योत्तराखण्डे ॥ ५२ ॥

अवन्तिकाया रम्ये

रम्यं चिद्भस्मना महाकालम् ।

शिप्रानीर-स्नातम्

शर्वं भक्ताः समर्चयन्ति ॥ ५३ ॥

ओङ्कारेश्वरनाथो-

विलसन् निरतं हि नर्मदा-तीरे ।

भक्तजनान् मोदयते

शरणागतान् शङ्करो यत्र ॥ ५४ ॥

पञ्चवटी-कटि-भूमौ

विख्यातस्र्यम्बकेश्वरो नाम्ना ।

महाराष्ट्र-भू-वासी

भूतेशो ज्योतिषां राशिः ॥ ५५ ॥

तस्मिन् सुरम्य-देशे

घृष्णेश्वरो नाम तसति शिवलिङ्गम् । ।

यदर्चयद्भिर्भक्तैः

सौभाग्यं लभ्यते क्षिप्रम् ॥ ५६ ॥

गुर्जराज्येरम्ये

अधिप्रभासे सरस्वती-निकटे ।

शिवलिङ्ग-सोमनाथो-

जयति सदा सज्जनानन्दः ॥ ५७ ॥

मध्ये द्वारावत्याः

प्राचीने दारुकावने रम्ये ।

शिवशम्भुनगेशो

भक्तैः सम्पूज्यते नित्यम् ॥ ५८ ॥

लङ्का-प्रयाण-काले

प्रतिष्ठितं रामेण जलधि-सविधे ।

रामेश्वर-शिवलिङ्गम्

लोकानुग्रहकरं जयति ॥ ५९ ॥

प्रख्याते श्रीशैले

सह्याद्रेर्महति शृङ्गके भव्ये ।

विख्यातं शिवलिङ्गं

मल्लिकार्जुननामकं भाति ॥ ६० ॥

तमिल-प्रदेश-मध्ये

त्रिपुरारिभीमशङ्करो नाम ।

विलसति सन्तत शिवदः

मृत्युञ्जय - पार्वती - नाथः ॥ ६१ ॥

ज्योतिर्लिङ्गैरेतैः

ग्रथितं सम्पूर्णभारतं भव्यम् ।

एकस्मिन् दृढसूत्रे

देशो मालायते यस्मात् ॥ ६२ ॥

भाषा भवन्तु भिन्नाः

स्वदतां भोज्यं जनेषु भिन्नं वा ।

भक्ति-मूल-सम्पर्कः

सर्वान् सङ्घे निबध्नाति ॥ ६३ ॥

प्राच्यां जगतां नाथः

प्रतीच्यां चकास्ति द्वारकाधीशः ।

बदरीनाथ उदीच्यां

रामेश्वरो दक्षिणे भाति ॥ ६४ ॥

द्वादश-ज्योतिर्लिङ्गैः

साकं चैतच्चतुष्टयं धाम्नाम् ।

भारतवर्ष सूत्रे

बध्नात्येकत्र संस्कृत्या ॥ ६५ ॥

राजनीति-कारणतो-

भाषा-शासन-कारणान्तरादपि ।

प्रभवतु राज्यमनेकम्

राष्ट्रैकत्वं तु सर्वत्र ॥ ६६ ॥

मण्डल-प्रमण्डलैर्वा

राष्ट्रैकत्वे न जायते बाधा ।

तद्वद् विभिन्न-राज्यै-

राष्ट्रं नैव खण्डितं भवति ॥ ६७ ॥

राज्याधिक्ये यस्मात्

सङ्घीभवनं सुदुष्करं राष्ट्रे ।

तस्माद्राज्य-बहुत्वं

न राष्ट्रस्य हिताय कल्पते ॥ ६८ ॥

शक्तिस्त्रिकोणरूपा

कामाख्या विन्ध्यवासिनी देवी ।

गुह्येश्वरीसहाया

चकास्तु भूमण्डलं परितः ॥ ६९ ॥

हिमवान् हिमसम्पत्तिं

सरितां मार्गेण प्रेषयति जलधौ ।

जलधिः पवनसहायः

मेघद्वारा नगं पुष्यति ॥ ७० ॥



मधुरोऽयं सम्बन्धो-

रसयति यत्र देशवासिनः सततम् ।

तन्मे भारतवर्षम्

सर्वजनहिताय चिरंजयति ॥ ७१ ॥

कपिल-कणाद-व्यासा-

जैमिनि-पतञ्जलि-गौतमा मुनयः ।

सांख्यादिदर्शनानां

ज्योतिर्यत्र प्रकाशयन्ति ॥ ७२ ॥

आदिकवेर्वाल्मीकेः

ख्यातरामायणं महाकाव्यम् ।

वैयासकेश्च विपुलं

काव्यं महाभारतं नाम ॥ ७३ ॥

यस्य समुन्नत-योगं

दर्शयतो मतं भूतलं परितः ।

यास्कीयं निर्वचनम्

व्याकरणं पाणिनेर्भाति ॥ ७४ ॥

वरुरुचि-निर्मित-वार्तिक-

सहितं पातञ्जलं महा-भाष्यम् ।

यत्र चकास्तिहि निरतं

पूज्यं तद् भारतं वर्षम् ॥ ७५ ॥

कालिदासमाघादेः

काव्यं यस्य प्रमोदयतिविश्वम् ।

तुलसी-सूर-कवीरा-

मीरा ख्याता जगति यस्य ॥ ७६ ॥

★

★

★

राष्ट्रध्वजे त्रिरङ्गे

केसर-सित-हरितानि भान्ति यस्य ।

मध्य-विभूषित चक्रं

सत्त्वं धर्मस्य दीपयते ॥ ७७ ॥

यस्य च राष्ट्रियचिह्ने

चक्रं चारु चकास्त्यशोकचक्रम् ।

यस्यहि डिण्डिमनादे

“सत्यमेव जयते” विजृम्भते ॥ ७८ ॥

विलसन्तो मृगराजाः

प्रकाशयन्ते सर्वा शिवशक्तिम् ।

राष्ट्रिय-खगोमयूरो-

राजतेयस्य सुमं कमलम् ॥ ७९ ॥

“सन्तु च सर्वे सुखिनः

सन्तु जगत्यां निरायमाः समके ।

प्रसरतु दैवी सम्पद्

योग-क्षेमः कल्पतां परितः ॥ ८० ॥

लोक-हिते व्यवहारो-

भवतु जगत्यां सुशान्ति-साम्राज्यम्” ।

विश्वजनीनो भावो

निरतं यस्य जृम्भते जगति ॥ ८१ ॥

त्रिगुणमयं सदपीदम्

ज्ञानमूर्ति-भरतस्य सम्बन्धेन ।

आध्यात्मिक-प्रामुख्यं

भजतेऽदो भारतं वर्षम् ॥ ८२ ॥

भरतस्यच दौष्यन्ते-

र्नामव्यपदेशतां दधातीदम् ।

तेनात्र प्रेयसा सह

श्रेयः समुपास्यते विज्ञैः ॥ ८३ ॥

नर-जीवन-साफल्यम्

एतयोः समन्वये सति मनुजेषु ।

पशु-नरयोः को भेदोऽ-

न्यथा भवेदत्र संसारे ॥ ८४ ॥

एतत्कारणवशतो-

देवा निरतं गायन्ति गीतानि ।

भगवानत्रावतरति

सर्वं स्थानं विहायान्यत् ॥ ८५ ॥

★

★

★

गतिमन्ति यान्ति काव्ये

निखिलान्यपि छन्दांसि तथ्यमेतत् ।

वृत्तानां चरणत्वं

पादत्वारोपणाच्छन्दसि ॥ ८६ ॥

आर्याया वैशिष्ट्यम्

“ऋगतौ” धातु-विशेषमूलकत्वात् ।

आर्यात्वमदसीयं

निर्मूलं न विद्यते वृत्ते ॥ ८७ ॥

“आर्याणां” प्राधान्ये

बीजं नैकं हि लोक-वृत्तानाम् ।

समीकरणमेतेषाम्

सामञ्जस्येनस्थानेषु ॥ ८८ ॥

वृत्तान्तरेषु यद्वल्-

लघु-गुरु-गण-यति नियमेन यन्त्रणाम् ।

अनुभवति पद्य-पादः

नचतद्वच्चरणमार्यायाः ॥ ८९ ॥

रत्न-विशेषाल्पत्वं

यथाहि तस्य महार्हतां जनयति ।

प्रविरलता त्वार्याया-

द्योतयते तथैव महिमानम् ॥ ९० ॥

एवं विशिष्ट-वृत्ते

निज-कवि-कर्म-कौशलमनाकलयन् ।

“गोवर्द्धन” मारोदुं

प्रयते पङ्कुरुन्नतं नूनम् ॥ ९१ ॥

केनचिदेवहि प्रतिभा—

शालि-मनुजेन विरच्यते काव्यम् ।

शुष्के प्रतिभा-स्रोतसि

काव्यलतां सेक्तुमहमीहे ॥ ९२ ॥

नैपुण्यस्य विशाले

कोशे सति सिद्धिमेति यतमानः ।

तत्कोशे मे रिक्ते

साधन-हीनो यते सिद्धौ ॥ ९३ ॥

कारण-कुंलेषु पच्चसु

सत्त्वेव भवति फलवान् यत्नः ।

इत्थमहं जानानः

प्रयते, तत् कारणं नूनम् ॥ ९४ ॥

सत्यनुकूले देवे

साध्यं सर्वं हि जायते सुकरम् ।

तनुते सहि साधनतां

यदि कृति-सिषाधयिषा प्रबला ॥ ९५ ॥



उपासना-वश-वर्ती

भवतिहि भगवान् प्रसिद्धमेवैतत् ।

व्रतमेतद्धितदीयं

भजतां भजनं नृणां सततम् ॥ ९६ ॥

भगवत् कृपयासद्यो-

मूकः प्राप्नोतिवाग्मितां सदसि ।

अपटु भवति पटीयान्

पङ्कर्महागिरिं लङ्घति ॥ ९७ ॥

सरिति वहति जलधारा

नैवागच्छति यथा पुनः पुरतः ।

तथैवमे कवि-वाणी

पुनरपि स्मृति-पथे नायाति ॥ ९८ ॥

पूर्वोच्चारितवर्णा

यथाहिविलुम्पन्त्युत्तरान् दृष्ट्वा ।

तद्वन्मानस-पटलात्

यान्ति मे पूर्वपदान्यचिरात् ॥ ९९ ॥

सन्तत-जल-कण-पातात्

स्थानं प्रभवति यथा शिला-शकले ।

अभ्यासादपि हृदये

वासं प्राप्नोति कवि-कर्म ॥ १०० ॥

कस्थाननमाधास्यत्

अधरीकृतसुधा हिमे कवि-वाणी ।

तस्य न चिन्ताकार्या

सततं सत्कर्म करणीयम् ॥ १०१ ॥

जगतीतलं विशालं

तथाच कालः प्रयाति निरवधिताम् ।

स्यान्मे समान-धर्मा

पायान्मे मधुरामृतं वचः ॥ १०२ ॥

यत्नः फलवान् प्रभवति

यत्नो नैवातिरिच्यते स्वफलात् ।

ध्यानं कार्य-विधाने

नियतं देयं, न परिणामे ॥ १०३ ॥

★

★

★

धन्यः कारागारो-

ह्यवतीर्णोयत्र देवकी-गर्भात् ।

परमः पुमानजन्मा

श्रीवसुदेवात्मजः कृष्णः ॥ १०४ ॥

मायापति-मति-गत्या

त्वरितं चलितस्ततश्च वसुदेवः ।

गोकुल-नन्द-निवासं

जगन्निवासं रक्षितुं तत्र ॥ १०५ ॥

नीत्वा तस्यास्तनयां

पुनरायातस्तथैव कारायाम् ।

भवति च निगडित-पादेऽ

भवच्च बाल-ध्वनिस्त्वरितम् ॥ १०६ ॥

दूत-निवेदित-कंसः

परमोद्विग्नः समाययौ तत्र ।

हन्तुं शिशुं शिलायां

न्यपातयद् घातुकः कोपात् ॥ १०७ ॥

उड्डीय कंस-हस्ताद्

बालाऽऽकाशस्थिताऽब्रवीदुच्चैः ।

मूढ ! क्रूर ! निहन्तः ?

शिशुरास्ते तवान्तकः क्वापि ॥ १०८ ॥

राक्षस-कुल-सम्भूता

कंस-नियुक्ता हि पूतना क्रूरा ।

आयाद् गोकुल-नाथं

पाययितुं विषपयःस्तन्यम् ॥ १०९ ॥

पयसा सह तत्प्राणान्

पीत्वा, तस्यैददौ च सल्लोकम् ।

सा प्राप्यमातृ-पदवीं

जाता धन्या गतिं लब्ध्वा ॥ ११० ॥

सप्तविंशके जननाद्

दिवसे जन्मर्क्ष-मङ्गले समये ।

लीला-पुरुषो बालो

बभञ्ज शकटं पदस्पर्शात् ॥ १११ ॥

कंस-निदेशाद् दैत्यो

हन्तुं कृष्णमियाय तृणावर्तः ।

वात्याचक्राकारः

सहकृष्णेनोदपतद्दिवि ॥ ११२ ॥

लीलावपुषो भारम्

उद्वोद्गुमशक्नुवैस्तृणावर्तः ।

जातो रुद्धश्वासो-

गत-निःश्वासः क्षणेनैव ॥ ११३ ॥

क्रोडे स्वके यशोदा

शिशुमुत्तानशयं विलोकयन्ती ।

बालमुखे जृम्भायां

विश्वं दृष्ट्वा भवच्चकिता ॥ ११४ ॥

आसीद् यशोदया सह

भवने नन्दस्य रोहिणी देवी ।

कंसाद्भीता निभृतं

निजतनुजेन बलेन् साकम् ॥ ११५ ॥



यदुकुल-गर्गाचार्यः

कर्तुं नाम्नी च बालयोस्तत्र ।

नन्दराज-प्रार्थनया

हर्षाच्छुभ-समये समायात् ॥ ११६ ॥

नाम्ना भूद् बलरामो-

ज्यायान्, कृष्णोऽनुजश्चिदानन्दः ।

सर्वे मोदमवापु-

बालिकयोर्नाम-संस्कारात् ॥ ११७ ॥

नन्दाङ्गने चलन्तौ

मृदुजानुभ्यां सुकोमलौ बालौ ।

आनन्दं वर्षन्तौ

जातौ मनोहरौ नृणाम् ॥ ११८ ॥

“कृष्णो मृत्तिमखादत्”

सूचितवन्तस्तुमातरं बालाः ।

मातुस्तर्जन-भीत्या

स व्यादाय मुखमदर्शयत् ॥ ११९ ॥

बालमुखे ब्रह्माण्डं

दृष्ट्वा माता न्यमीलयन्नेत्रे ।

चकिताऽभ्रमदिव चित्तं

स्वस्थाऽऽकर्ण्य क्रन्दनं तस्य ॥ १२० ॥



नवनीतं हि कपिभ्यो-

ददतं कृष्णं विलोक्य तज्जननी ।

तस्मावति कुप्यन्ती

बद्धुमैच्छदूलूखले ऽमितम् ॥ १२१ ॥

द्वयङ्गुल-न्यूनां रज्जुं

सा सन्धाय पुनरन्ययारज्ज्वा ।

पुनरपि तथैव दृष्ट्वा

चकिता माता - परिश्रान्ता ॥ १२२ ॥

श्रान्तां विलोक्य जननीं

बन्धन-मुक्तोऽपि बन्धनं प्राप्य ।

प्रामोदयद् यशोदां

स्वयं रुदन् लीलया बालः ॥ १२३ ॥

मणि-नलकूवर-यक्षौ

नारद-शापेन वृक्षतामाप्तौ ।

आस्तां नन्द-द्वारे

प्रतीक्षमाणौ हरेः स्पर्शम् ॥ १२४ ॥

ऊखल-बद्धः कृष्णो-

यमलार्जुनयोर्मध्यतो गत्वा ।

उन्मूलयन् तरु तौ

यक्षौ चक्रे विनिर्मुक्तौ ॥ १२५ ॥

एका फल-विक्रयिणी

भवने नन्दस्य स्वेच्छयाऽऽगत्य ।

कृष्णाञ्जलौ हि रिक्ते

दत्त्वा फलं पूर्णतामाप ॥ १२६ ॥

कंस-कृतानुत्पातान्

गोपा आलोक्य गोकुलं परितः ।

वृन्दावनमागन्तुं

विचिन्त्य वृद्धा मनोदधिरे ॥ १२७ ॥

वृन्दावन-व्रज-भूमि-

राशुशुभे नन्द-नन्दनस्पर्शात् ।

किं सौभाग्यं वर्ण्यं ?

यत्रास्ते सच्चिदानन्दः ॥ १२८ ॥

कृष्णे त्रिहायने सति

गोपसखैः सोऽप्यचारयद् धेनूः ।

विदधत् क्रीडा विविधा-

बालसखान् प्रमोदयामास ॥ १२९ ॥

कृष्णं निहन्तुमसुराः

कंस-नियुक्ताः समागमैस्तत्र ।

अघ-बक-वत्स-व्योमा-

दिवंगता लीलया शौरेः ॥ १३० ॥

विधिरपि मायावशतो-

हरणं विदधद् गवां च गोपानाम् ।

बहु-वर्षाणामन्ते

चकितो माधव-शरणमाम ॥ १३१ ॥

एवं बहुविधलीला-

लीलावपुषा विधाय दनुजारिः ।

सुरपति-मोह-विभङ्गं

विदधो सचासप्तमे वर्षे ॥ १३२ ॥

नग-हायन-मृदुवपुषो-

नग-दिवसेषु नगं करे विलोक्य ।

गोपा विस्मित चित्ता-

मुदितास्तस्यलीलयाऽभूवन् ॥ १३३ ॥

जितमारं सुकुमारं

नन्दकुमारं वेणुमादधानम् ।

मधुराकृतिं किशोरं

पश्यन्त्यो मुमुदिरे बालाः ॥ १३४ ॥

तस्मिन् मधुर-किशोरे

गोप-किशोर्यो मनांसि संदधिरे ।

सर्वास्तमेव स्वपतिं

कामयमानाश्च संभेजुः ॥ १३५ ॥

कात्यायनीं किशोरीं

मायारूपामभीष्टफलदात्रीम् ।

पूज्यामधीश्वरींताम्

बालाः संप्रार्थयामासुः ॥ १३६ ॥

परमपुरुष-हित-भावा-

विरहित-कलुषित-भावना-विशुद्धाः ।

तपसा निर्मलदेहा-

व्रजबाला व्रजराजतांगताः ॥ १३७ ॥

नन्द-नन्दनोदेवो-

मायावस्त्रापहारमाकलयन् ।

जीवेश्वरयो रैक्यं

विदधे ताभिः समं नूनम् ॥ १३८ ॥

सरसा कदम्बलीला

लीला रासस्य भाविनी यास्ति ।

प्रस्तावना हि तस्या-

निगदन्त्येवं मतं युक्ताः ॥ १३९ ॥

आत्मारामः कृष्ण-

स्तस्यैवात्मास्ति राधिका नूनम् ।

तस्या एव समस्ता-

निजरूपा गोपिका रासे ॥ १४० ॥

आत्मारामः सन्नपि

मायी रन्तुं विभूतिभिः स्वामिः ।

आत्मानं बहुरूपं

कलयति सकलां कलां धृत्वा ॥ १४१ ॥

एषैव रासलीला

वृन्दावन-विहारि-व्रजराजस्य ।

योगमायया रचिता

राकायां राधया सार्द्धम् ॥ १४२ ॥

अस्यैव परमपुंसो-

भाग्यान्महतीं कृपां समासाद्य ।

अधिकारं यो लभते

सौभाग्यं याति लीलायाः ॥ १४३ ॥

विषधर-दमनं कर्तुं

प्रविश्यमध्ये हृदस्य यः कालम् ।

नागं विधाय विमदं

तत्फण-फलकेऽकरोल्लास्यम् ॥ १४४ ॥

दावानल मत्युग्रं

वनेच शोकाकुलंजनं वीक्ष्य ।

प्रज्वल्यमानमनलं

पीत्वा मोदं व्यघात् परितः ॥ १४५ ॥



वृन्दावन-बहुलीला-

विधाय दिव्याश्चदेवकीसूनुः ।

कर्तुं ता मथुरायाम्

गन्तुमना अभूत् कंसारिः ॥ १४६ ॥

अत्युद्विग्नः कंसः

कृष्णं हन्तुं हि योजनामकरोत् ।

आयोज्य मल्ल-युद्धम्

सबलं, कृष्णं न्यमन्त्रयत्तत्र ॥ १४७ ॥

दूतरूपम्क्रूरं

सविनयमाराध्य प्रेषयामास ।

नन्दनन्दनं निकषा

बलसहितं तं समानेतुम् ॥ १४८ ॥

विवधोपहार-सहितो-

नन्दाद्यैर्बन्धु-बान्धवैः साकम् ।

वृन्दावन-मधु-लीलां

विहाय सबलोऽचलन्मथुराम् ॥ १४९ ॥

व्रजबाला अक्रूरम्

स्वात्मानञ्चैव नीयमानं तम् ।

क्रूरे कर्मणिदक्षं

सोरस्ताडं भृशं न्यशपन् ॥ १५० ॥

रथ-सारथिरक्रूरो-

मारुतवेगेन चालयन्नश्वान् ।

कालिन्दी-तटमायत्

स्नातुं च प्राविशन्नद्याम् ॥ १५१ ॥

नीरे कृष्णं दृष्ट्वा

तीरे द्रष्टुं पपात स्वां दृष्टिम् ।

तत्रालोक्य रथस्थं

पुनर्न्यमज्जज् जले त्वरितम् ॥ १५२ ॥

पुनरपि नीरे स्नान्तं

दृष्ट्वा, तीरे न्यपातयद् दृष्टिम् ।

पुनरवलोक्य रथस्थं

कृष्णं स्तौतिस्म परमेशम् ॥ १५३ ॥

चकितश्चलितस्तीरात्

नचिरात् कंसं हतं समवगच्छन् ।

मथुरामाप्य समुत्कं

कंसं न्यवेदयद् वृत्तम् ॥ १५४ ॥

नगरं पश्यन् सबलो-

रजकं दुष्टं निहत्य विख्यातः ।

कुब्जामृज्वीं कर्तुम्

विदधे तस्यां कृपां परमाम् ॥ १५५ ॥

रङ्गोत्सवं हि द्रष्टुं

रङ्गद्वारे विलोक्य श्रीकृष्णम् ।

तिरश्चीन-नयनाभ्यां

ददर्श तं कुवल्यापीडः ॥ १५६ ॥

गजपालेनाङ्कुशितोऽ

गर्जत् कृष्णे महागजः क्रुद्धः ।

लीलयैवतं देवो-

यमसदनं प्रापयामास ॥ १५७ ॥

आस्फाल्याशनि-बाहू

मुष्टिक-चाणूर-नामकौ मल्लौ ।

मल्ल-रणे युयुधाते

मृदुतनुकाभ्यां किशोराभ्याम् ॥ १५८ ॥

युद्धं बलाबलंतद्

दृष्ट्वा चुक्रुशुरासजना दुःखात् ।

रणकुशलौ सुकुमारौ

न्यहतांमल्लयुगं क्षिप्रम् ॥ १५९ ॥

क्रूरं वंश-कुठारं

कंसं हन्तुं मनोदधे कृष्णः ।

तरसोल्लपुत्य स मञ्चे

कंसं निजधान दुष्कृतिनम् ॥ १६० ॥

पुण्यकृतो मुदमापुः

पितरौ मुक्तौ बभूवतु निर्गडात् ।

ऋषयो मुनयो मनुजा

आप्ताः शान्तिं परां प्रापुः ॥ १६१ ॥

अस्ति-प्राप्ती विधवे

चख्यतु रागत्य मागधं पितरम् ।

जरासन्ध आकर्ण्यतु

तनया-विपदं च चुक्रोश ॥ १६२ ॥

बली मागधो दर्पाद्

रिपु-वंश्यान् समूलमुन्मूलयितुम् ।

मथुरापुरीं समन्तान्

न्यरुणच्चातुरङ्ग-सेनाभिः ॥ १६३ ॥

मागध-बलमुच्छेत्तुम्

सहबलदेवेन मन्त्राणां कृत्वा ।

अवशेषितमेकं तम्

मगधान् संप्रेषयामास ॥ १६४ ॥

एवंवारम्वारम्

हतबलवीर्योऽपि मागधो दृप्तः ।

पुनरप्यतिसंरम्भात्

सकालयवनः पुरीं न्यरुणत् ॥ १६५ ॥

कृष्णं पलायमानं

दृष्ट्वा यवनो द्रुतं तमन्वसरत् ।

यावद्गुहां स धावन्

यत्रासीत् स्वपन्-मुचकुन्दः ॥ १६६ ॥

सुप्तं कृष्णं मत्वा

यवनस्तं पदेन ताडयामास ।

सुप्तोत्थित-मुचकुन्दं

दृष्ट्वा सपद्यग्निसाज्जातः ॥ १६७ ॥

अनुपदमेव मुकुन्दो-

मुचुकुन्दं मुदा प्रसादयामास ।

दर्शं दर्शमघारिं

सजन्म-साफल्यमालेभे ॥ १६८ ॥

जगन्निवासो भगवान्

सागरमध्येहि द्वारकापुर्याम् ।

परिजन-पुरजन-सहितो

वासं विदधे सुखं जनयन् ॥ १६९ ॥

परिणीय चाष्टमहिषी

दारागार-सुखमनुभवैस्तत्र ।

विविधाभिर्लीलाभि-

गार्हस्थ्यमदर्शयत्कृत्यम् ॥ १७० ॥

प्रासादेष्वमितेषु च

कृष्णं सर्वत्र कार्य-संलग्नम् ।

पश्यन् चकितो मुग्धो-

देवर्षिनरिदोहृष्टः ॥ १७१ ॥

नृत्यन् रणयन् वीणां

शंसन् पर्यटनं व्यधाद्भुवनेषु ।

गायन् माधव-लीलां

मुनिदेवान्परितो व्यरञ्जयत् ॥ १७२ ॥

यदायदाहि ग्लानि-

र्भवतिचधर्मस्य, वर्धतेऽधर्मः ।

तदातदायोगेशोऽ-

वतरतिभगवान् स्वयं कृष्णः ॥ १७३ ॥

गोकुल-वृन्दा-मथुरा-

द्वारा-लीलया प्रसाद्यसुकृतिनः ।

महाभारत-व्याजाद्

दुर्वृत्तान्हन्तुं समैहत ॥ १७४ ॥

★

★

★

पापक्षयकृत्कालो-

जगन्निवासो विभुर्वपुर्धृत्वा ।

अव्यक्तोऽपि व्यक्तः

स्वामी सन्नपि सारथिर्जातः ॥ १७५ ॥



कर-धृत-राष्ट्रो राजा

धर्माशं नैवदातुमीहते स्म ।

“भुक्तङ्गे त्वधं जनोऽसौ

पचति स्वार्थाय यः पाकम्” ॥ १७६ ॥

इति सन्देशं दातुम्

क्षेत्रे धर्मस्य भारते युद्धे ।

पार्थ-सारथिर्भूत्वा

गीता-ज्ञानमदाल्लोकाय ॥ १७७ ॥

निष्काम-कर्म कुर्वन्

ध्यायन् क्षेमंकरं परात्मानम् ।

भक्तयेशं भजमानः

जानन् पुरुषोत्तमं तत्त्वात् ॥ १७८ ॥

लभते मनुजोऽभीष्टं

भक्ति-ज्ञान-कर्म-योगि-संसाध्यम् ।

गीतातत्त्वं परमं

सन्देशश्चैषकृष्णस्य ॥ १७९ ॥

योगेशः श्रीकृष्णः

तेन च सहितो धनुर्धरः पार्थः ।

कुरुते यत्रच कार्यम्

विजय - श्री - विभूतयस्तत्र ॥ १८० ॥

विषय-ध्यानात् पुरुषे

विषयासक्तिः प्रजायते नितराम् ।

विषयासङ्गात् कामः

कामात् क्रोधाग्निरभिज्वलति ॥ १८१ ॥

कोप-जनित-सम्प्लोहः

स्मृति-विक्षेपं विशेषतो जनयति ।

स्मृति-विक्षेपाद् बुद्धे-

र्नाशो, नाशाच्च तन्नाशः ॥ १८२ ॥

यस्माद् विषये रागो-

भवति निदानं तु सर्वनाशस्य ।

तस्माद् विषये रागं

विहाय, कृष्णेहि तं कुर्यात् ॥ १८३ ॥

अवलोक्यते हि लोके

रागलताया विजायते शोकः ।

केवल कृष्णे रागो

रुचिरं मधुरं फलं जनयति ॥ १८४ ॥

राग-द्वेष-वियुक्तै-

रिन्द्रिय-निचयैर्वशीकृतैर्विषयान् ।

भुञ्जान एव पुरुषो-

मानस - प्रसादमधिगच्छति ॥ १८५ ॥

सत्त्वे मनःप्रसादे

दुःखाभावोहि जायते पुंसः ।

नृणां प्रसन्न-मनसां

परात्मन्यवतिष्ठते मतिः ॥ १८६ ॥

युक्तस्यैव हि पुंसो-

निश्चयात्मिका भावना प्रभवति ।

तादृश्या भावनया

शान्तिः, शान्त्या परानन्दः ॥ १८७ ॥

अम्भसि पवनो नावं

हरते यथाहि यदृच्छया वेगात् ।

तद्वद् विषयासक्तं

चेतोऽयुक्तं मतिं हरति ॥ १८८ ॥

कामं विहाय सर्वं

निर्मम-निरहंकार-निःस्पृह स्त्वेव ।

विषये विचरन् निरतं

परमांशान्तिं समधिगच्छति ॥ १८९ ॥

निखिले भूत-समूहे

स्वात्मानं, स्वस्मिन्नखिल भूतानि ।

समदर्शीयुक्तात्मा

पश्यन् स्वाराज्यमधिगच्छति ॥ १९० ॥

एकादशभिर्युक्तो-

बुद्ध्यहंकार-गुणैश्च समवेतः ।

चैतन्याहितजीवो-

देहाद् देहान्तरं याति ॥ १९१ ॥

सुमनोगन्ध-समेतो-

वायुर्देशान्तरं यथा वहते ।

तद्वद् गुणादियुक्तो-

जीवात्माप्यत्रव्यवहरति ॥ १९२ ॥

परमारोप्य तु पूर्वम्

पादं यथाहि तृणजलूका त्यजति ।

पर-वपुराधृत्यैवं

जीवोदेहं त्यजति पूर्वम् ॥ १९३ ॥

एकस्मादपरस्मिन्

देहे विशन्तं सूक्ष्ममात्मानम् ।

पश्यति नैव विमूढो-

ज्ञानचक्षुस्तमवलोकयति ॥ १९४ ॥

शुनि गवि हस्तिनि विप्रे

जीवात्मानं समं बुधः पश्यति ।

देहेषु तु नैतेषाम्

समवर्तित्वं विभावयति ॥ १९५ ॥

गीता-मुख्यादेशो

भुक्तयै मुक्तयै च जगन्मनुजानाम् ।

बुधैः सदा कर्तव्यं

स्मरणं कृष्णस्य, कार्यञ्च ॥ १९६ ॥

जीवं रक्षति कृष्णे

कः कुर्यात् तस्य बालमपि वक्रम् ।

खग-शावक-संरक्षा-

दृष्टान्तोऽस्ति महाभारते ॥ १९७ ॥

★

★

★

द्वारावती सुरम्या

रचिताया विश्वकर्मणः शिल्पात् ।

निधिपति-निधि-विभवादपि

अधिकर्द्धिर्विजृम्भते यत्र ॥ १९८ ॥

भोगैश्वर्यमसीमम्

साक्षाल्लक्ष्मीर्विलासमातनुते ।

कल्पतरुर्महिमानम्

वितनोत्यहर्निशं यत्र ॥ १९९ ॥

रुक्मिण्यादि महिष्यो

महिता भामाश्च सेविका यस्य ।

आत्मारामो भगवान्

किमिवोदास्ते स्वयं तत्र ॥ २०० ॥



“किमिदं नाथ ! न रमसे

शून्यं शून्यं समाचरसि सततम् ।

अस्ति किमत्र हि रिक्तम् ?

कथयास्मान् किंकरीदासीः” ॥२०१॥

राधारमणो विहसति

वक्तुं शक्तो न हृद्गतं भावम् ।

अन्यमनस्कः सन् खलु

ध्यानामग्नो हि संजातः ॥२०२॥

पुनरन्यस्मिन् दिवसे

चिन्तामग्नं विलोक्यतं तद्वत् ।

राजसुता सोद्विग्ना

सहठं वक्तुं हि प्रार्थयत ॥२०३॥

त्वमसिविभो ! परमेश्वर !

प्रकृति-महेशो न कोऽप्यभावस्ते ।

दुःस्थितिमेनां कलयन्

विकलीकुरुषे च नः सततम् ॥२०४॥

मायापतिरतिविकलः

श्रुत्वातक्षणे मूर्च्छितो जातः ।

व्याकुलमतिपीडाभिः

उपचरितुं समागता भिषजः ॥२०५॥



आगच्छन् नैदानाः

अभवन् मौनाः परीक्ष्य ते सर्वे ।

उपचारं नापश्यन्

कर्तव्यं मूढतामापुः ॥२०६॥

भैष्मी, भामा, भद्रा,

सत्यानाग्निजिती, लक्ष्मणा, वृन्दा ।

कालिन्दीरवितनया,

जाम्बवती च प्रिया भामाः ॥२०७॥

अष्टौ प्रमुखमहिष्यः

चिन्तामापुर्विभोर्दशां विलोक्य ।

किं कर्तव्य-विमूढा-

दृष्ट्वा प्रोवाच ताः स्वामी ॥२०८॥

“भेषजमास्ते पाश्वे

किन्त्वनुपानं विना नतत् सफलम् ।

प्रियजन-पद-रजसासह

सेवनमस्य केवलं करणम्” ॥२०९॥

पश्यन्ती हाऽन्योन्यम्

नोत्सहते कापि पद-रजोदातुम् ।

त्रिभुवन-पतये, भीत्या

निरवधि नरके हि संवामान ॥२१०॥

तस्मिन् वेदन-समये

देवर्षिस्तत्र नारदोऽभ्यागात् ।

ज्ञात्वा विकट-समस्याम्

भूत्वा भक्तोऽप्यभूमौनी ॥ २११ ॥

गोपी-रमणो न्यदिशद्

देवर्षे ! याहि गोकुलं शीघ्रम् ।

गोपी-जनं निवेदय

पदरज आनय ततस्त्वरितम् ॥ २१२ ॥

मनोजवो देवर्षिः

गत्वाऽयाचत गोपीश्चरण-रेणुम् ।

अहमहमिकया सर्वाः

समनुभवन्त्योहि प्रिय-पीडाम् ॥ २१३ ॥

ददिरे चरण-रजांसि

क्षिप्रं गन्तुं निवेदयामासुः ।

प्रत्यागतो महर्षिः

अशितं तद् भेषजं प्रभुणा ॥ २१४ ॥

त्वरितं बभूव नीरुक्

सत्प्रेम्णो रूपमवगतं सर्वैः ।

वक्तुं नैव हि शक्यं

रूपं प्रेम्णो हि गोपीनाम् ॥ २१५ ॥

दैवर्षिर्ब्रूतेस्म

स्वयं स्वरूपं निरीक्ष्य प्रियतायाः ।

प्रेमानिर्वचनीयम्

आस्वादसदृशं हि मूकस्य ॥ २१६ ॥

पत्र-पुष्प-फल-तोयम्

प्रेम्णा हरये समर्पितं सम्यक् ।

मुदाशनाति तद्भगवान्

भक्तिमृते नचामृतं पिबति ॥ २१७ ॥

दीनोविप्र-सुदामा

दत्त्वा जगदीश्वराय सद्भक्त्या ।

कतिपय-तण्डुल-पृथुकान्

प्राप्नोच्चाकल्पितामृद्धिम् ॥ २१८ ॥

अवतारस्य हि लक्ष्यं

नैजं सर्वं समाप्य लोकेऽस्मिन् ।

गन्तुं धामस्वीयम्

ईहाञ्चक्रे जगन्नाथः ॥ २१९ ॥

प्रादुरभूदुत्पातः

द्वारावत्यां निरन्तरं नैकः ।

त्यक्त्वा स्वां नृपधानीम्

प्रभासं समागमन् सर्वे ॥ २२० ॥

धातुः संप्रेरणया

साम्बाद्या यदुकुमारकामत्ताः ।

अन्योन्यं संघर्षं

चक्रुः प्राणात्ययं यावत् ॥ २२१ ॥

हलायुधो बलरामः

पश्यन् घटनां न्यमीलयन्नेत्रे ।

दृष्ट्वा तज्जगदीशः

तरुमूलेऽविशन्मृगरूपः ॥ २२२ ॥

शापायस-कृतशूलं

धनुषा संयोज्य लीलया शौरेः ।

मृगाकार-परमेशम्

व्याधस्तन्माययाऽविध्यत् ॥ २२३ ॥

पुनरव्यक्तो व्यक्तः

प्रभवति भक्तस्य भावना वशतः ।

अजाव्ययात्मा सन्नपि

कुरुते जन्मवतां कर्माणि ॥ २२४ ॥

★

★

★

नीरं यदा कठोरम्

भवति हिमानी तदा कियत् फलकम् ।

दिनकर-कर-संस्पर्शाद्

द्रवतियदा 'जीवनं' भवति ॥ २२५ ॥

हिमगिरि-जलनिधि-मैत्री

सरित् पवन-सहयोगंसमासाद्य ।

कुरुते जीवन-दानं

जीवा जीवन्ति येनात्र ॥ २२६ ॥

क्षार-महाजलराशेः

स्वल्पोऽपि वरीयान् मधुर-जलकूपः ।

शमयति योहि पिपासाम्

तृषा-परिश्रान्त-मनुजानाम् ॥ २२७ ॥

कमल ! त्वमसि हि 'कमलम्'

मावह खेदं कदापि हृदि तस्मात् ।

स्वगुण-वशात् त्वं निवससि

नाभौ विष्णोर्हि ते भाग्यम् ॥ २२८ ॥

त्वं जनयसि जन-जनकम्

प्रजापतिं विधिं जगत्कर्तारम् ।

'पङ्कज' ! खिन्नो मा भव

काम्या पङ्कजाक्षता जगति ॥ २२९ ॥

वदन-नयन-कर-चरणे

सर्वत्र त्वं हि काम्यसे पङ्कज ।

देवैर्मनुजै लोके

शोच्यं नैव तेन ते किञ्चित् ॥ २३० ॥

यत् किञ्च कर्मकाण्डम्

वैदिकमथवा लौकिकमिदं सर्वम् ।

सम्पादयितुं विधिना

सृष्टस्त्वं कुश ! प्रजानासि ॥ २३१ ॥

तत् किं मूलं शूलं

कुरुषेऽसि-सम-निशितानि पत्राण्यपि ।

लोको घात-भयात्ते

निकटे यायात् कथं ब्रूहि? ॥ २३२ ॥

कपिकच्छो ! कर्मेतत्

लोकस्ते कदापि मानयेद् युक्तम्? ।

निर्दोषानपि पथिकान्

स्पृष्ट्वा बलाद्धि पीडयसि ॥ २३३ ॥

अज्ञानादमि जन्तो

रङ्गस्पर्शेन दधासि सङ्कोचम् ।

लज्जावति ! वैमुख्यं

शस्यं हास्यं समावहति ॥ २३४ ॥

सुखयति पथिकान् श्रान्तान्

भुज-शाखाच्छत्र-शीतलच्छाया- ।

दानैस्तरुरिह निरतं

सत्यं तस्य जीवनं सफलम् ॥ २३५ ॥



वृक्षः शाखोटकोऽपि

जनुषा जातस्तु शाखिनां वंशे । ।

कुरुते नैव-स्वीयं

कर्माप्येकं, हि किंश्वसिति ? ॥ २३६ ॥

तप्ता सहस्र-किरणै-

र्दग्धा निरतं निदाध-सन्तापात् ।

दूर्वा तथापि सुखयति

पथिकान् मार्गस्थितान् नित्यम् ॥ २३७ ॥

अश्वत्थस्तरुराजो-

योहिदधाति विष्णु रूपतांतरुषु ।

कस्यास्ते ऽयंगरिमा

महिमा तद् गीयते लोकैः ॥ २३८ ॥

अश्वत्थ ! भाग्यशालिन् !

ब्रह्मस्थानेषु पूज्यसे ग्रामे ।

सोमयुतामायां त्वम्

नूनं साक्षाद्धरिर्भवसि ॥ २३९ ॥

एतत्ते माहात्यं

निखिलान्यपि पुराणानिसुगायन्ति ।

वपुषश्छायादानैः

पथि पथिकान् रज्जयसि ग्रीष्मे ॥ २४० ॥

वट ! त्वदीयाच्छाया

उष्णा शीते च शीतला ग्रीष्मे ।

इष्टक-शाला तुल्या

काम्या सर्वत्र लोकेषु ॥ २४१ ॥

अफलस्त्वं तरु-जातौ

नासि विचिन्त्यो जनैस्तथाप्यस्मात् ।

वटसावित्रीव्रतिनां

पूज्यत्वं याति त्वय्येव ॥ २४२ ॥

त्वद्बीजे हि विशालो-

वृक्षो गूढोऽवतिष्ठते यद्वत् ।

तद्वत् सूक्ष्मे ब्रह्मणि

सन्तिष्ठते ऽखिलसंसारः ॥ २४३ ॥

तरुकदम्ब ! महिमाते

नहि कुसुम-कदम्बादेवगीयते ।

तवरूप-स्मरणाद्धि

प्रभु-लीला स्मर्यते भक्तैः ॥ २४४ ॥

शिशप ! शाल ! गभारे !

यूयं फलमन्तरापि कमनीयाः ।

स्वं स्वं वपुर्विदार्यहि

निर्माथ भव्य-प्रसादान् ॥ २४५ ॥

सहकार ! नाम तुल्यम्

कुरुषे जगतां जनेषु सहयोगम् ।

छायादल-फलदानै-

रन्ते देह-प्रदानाच्च ॥ २४६ ॥

जनयन्ति सुखं जनेषु

त्वद् रसवन्ति फलानि मोदकानि ।

प्राकृत-नियमाबद्धः

न शक्नोषि निरन्तरं दातुम् ॥ २४७ ॥

कर-पल्लवाङ्गुलीभिः

दूषित-वात-निवारणाद्धि शुद्धम् ।

विधाय वातावरणं

प्राणिनां जीवनमादधासि ॥ २४८ ॥

वनस्पतेरावासे

निवसति जगतां सदैव सौभाग्यम् ।

स्वस्त्यस्तु वनस्पतये

रमतां जीवश्च लोकेषु ॥ २४९ ॥

शान्तो वनस्पतिश्चेत्

पृथिवी शान्ता भवेच्चधौः शान्ता ।

तेन समन्ताल्लोके

शान्तेः साम्राज्यमायास्यत् ॥ २५० ॥

बिल्व ! त्वं सम्पूज्यः

देवानां प्रियतां दधासि नूनम् ।

रमा-करादुत्पन्नः

दत्से तस्यै परां प्रीतिम् ॥२५१॥

पत्रं नास्ति करीले

ऋतुराजो नैव दूष्यते तस्मात् ।

सर्वं भाग्यायत्तं

तन्निर्मातुं चेष्टयेन्नित्यम् ॥२५२॥

★

★

★

संधृत्यरोममूलम्

चर्मोक्श्चर्मणातिसंसक्तः ।

चर्मैव च त्वं दशसि

नहि चिन्तयसि तत् प्रतिक्रियाम् ? ॥२५३॥

वससि शिरसि कचमूले

लिक्षे ! पिबसिच निरतं मनुजरक्तम् ।

कृन्तसि तमेव चैवम्

“छिनत्सि तदेव यत्राश्नासि” ॥२५४॥

जन्तूनां कच-निचये

निवसति यूके ! चूष्यसि च तद्रक्तम् ।

यस्य बलेन च जीवसि

किं तमेव घातयस्येवम् ॥२५५॥

शिरसि हि दंशं कुरुषे

भवसि निगृहीताङ्गुष्ठ-तर्जनीभ्याम् ।

हस्ततले च न्यायान्

निधनं तेऽङ्गुष्ठ-पृष्ठाभ्याम् ॥ २५६ ॥

लघुरूपमादधाना

कुरुषे यूके ! तथापीदृशं कर्म ।

भुङ्क्षे तत् परिणामम्

पापं कष्टायते नूनम् ॥ २५७ ॥

मत्कुण ! निवससि कशिपौ

नृणां पर्यङ्क-खट्वा-चतुष्कीषु ।

पिबसि च तेषां रक्तम्

संवर्धयसे स्व-परिवारम् ॥ २५८ ॥

पिबन् मनुज-बहु-रक्तम्

पीवरतामादधान उदंश ।

उदंशसिचशयानान् ?

दष्टा कष्टमश्नुते नूनम् ॥ २५९ ॥

मत्सरमशक ! पिशुनतां

कुरुषे कर्णेजपताञ्च सन्ततम् ।

दंशसि, हरसे निद्राम्

दुष्टो दण्ड्यो न त्वं वेत्सि ? ॥ २६० ॥

सुमति स्त्वमसि जलूके !

‘भव्यं’ कार्यं विचार्य संकुरुषे ।

पूर्वं परमारोप्यतु

पदमपरं जहासि भूतले ॥२६१॥

जन्तौ प्रविशति नीरे

तदुपचरण मागत्य जलूके ! त्वम् ।

रक्तं पिबसि व्याजात्

सुमते ! धन्यासि परहितकृत् ॥२६२॥

त्यजसि यथेच्छंपीत्वा

रक्तं जन्तून् यदा जलूके ! त्वम् ।

उभे मुखे ते विद्धे

विधाय सन्तापयति भानौ ॥२६३॥

भवत्ययं परिणामः

पर-पीडाकर-प्राणिनां नूनम् ।

मधुरास्वादन-समये

कुरुते ना न भव्य-चिन्तनम् ॥२६४॥

लूते ! तनुषे तन्तून्

रुन्त्से स्वात्मानमेवतज्जाले ।

स्वीय-कर्म-फलमेतत्

पश्यन् मनुजो न चेतयते ॥२६५॥



तव जालस्य महत्त्वम्

ज्ञात्वा निर्माति कुण्डलं तद्वत् ।

शिल्पी, भवति च भगवान्

मकराकृति-कुण्डलस्तस्मात् ॥ २६६ ॥

कुसुम-रसं पिब मधुकर !

माकुरु भेदं दलेषु सरसेषु ।

निवससि यत्र सुखार्थं

नलिनीदलभुजपञ्जरे निशि ॥ २६७ ॥

माधव-मधु-सन्देशं

नीत्वाऽऽ यादुद्धवो यदा वृन्दाम् ।

आधाय च तव रूपम्

मुरलीधर आगमत् तत्र ॥ २६८ ॥

त्वद्रूपेण हि कितवो-

मिलितो निभृतं छलेन बालाभिः ।

परमं ते सौभाग्यम्

धन्यो मधुप ! त्वमेव जगति ॥ २६९ ॥

ऊर्ध्वमुखी जलशुक्तिः

तपति विपश्यति यदाननं निरतम् ।

वारिद-बिन्दून् द्वित्रान्

पील तन्मौक्तिकं जनयति ॥ २७० ॥

मीन ! त्वमेव धन्यः

विष्णुः प्रथमं दधार ते रूपम् ।

हयग्रीवतोवेदान्

सत्यव्रत-सहाय उद्धर्तुम् ॥ २७१ ॥

कच्छप ! तव सौभाग्यं

शक्यं तन्नहि कदापि वर्णयितुम् ।

धृत्वा विष्णु-शरीरं

धृतवान्मन्दरमब्धिमन्थने ॥ २७२ ॥

यस्मादमरैरमृतम्

पीतं विजितं दनुजबलं सकलम् ।

देवासुर-संग्रामे

येनाभूच्छान्ति-साम्राज्यम् ॥ २७३ ॥

पृष्ठं वज्रकठोरम्

दधासि ऋज्वाननमान्तरं सततम् ।

त्वद्गतिजन्य-विभावान्-

मनुजोऽपिमन्थरगतिरभवत् ॥ २७४ ॥

कर्कट ! निजहस्ताभ्यां

तीक्ष्णनखाभ्यां करोषि परकण्ठे ।

त्वं केवलमाघातं

न जानीषे प्रतिफलं तस्य ॥ २७५ ॥

शङ्ख ! त्वदीयजीवन—

मास्ते सफलं नचान्न विचिकित्सा ।

“पञ्चत्वं” समावाप्यहि

विष्णोः करे भूषणं भवसि ॥ २७६ ॥

मकर ! करोषि यादृशं

कार्यं माकुरु जलेतटे सरिताम् ।

जीवः पातुं स्नातुम्

आगच्छति ते सरिति नित्यम् ॥ २७७ ॥

विवश्वान् हि तव राशा—

वागच्छत्येव वर्धते क्रमशः ।

पश्य स्वं सौभाग्यं

कुरुष्व कार्यं तदनुरूपम् ॥ २७८ ॥

मकर-वाहने ! गङ्गे !

तव नाम वहति पवित्रतामन्त्रम् ।

देवि ! वाहनं सुदमय

बलिना रक्ष्या निरपराधाः ॥ २७९ ॥

गिलसि तिमिं हि तिमिङ्गिल !

त्वामपि ततस्तिमिङ्गिलगिलो गिलति ।

तमपि ‘राघवो’ निगिलति

युक्तानर्थ-परम्परा क्वचित् ? ॥ २८० ॥

‘राघवं’ ! तव प्रसादात्

“मात्स्यन्यायो”ऽ जायत लोकेष्वपि ।

शासति यादसाम्पतौ

धिक् त्वां हा वरुणञ्च सन्ततम् ॥ २८१ ॥

दर्दुर ? रटसि, न जाने

कथयसिकिंकिं समुत्सुकान् लोकान् ।

किन्त्वेकस्मिन् मञ्चे

नो तिष्ठसि स्वजातिभिः साकम् ॥ २८२ ॥

बक ! किं ध्यानाद् ध्यायसि ?

सरसी-तीरे मग्नमना निरतम् ।

निर्दोषस्यहि हननं

नितरां जायते विनाशाय ॥ २८३ ॥

कुलक्रमागत-धर्मं

माजहि हंस ! त्वमपि तु लोकेऽस्मिन् ।

नीरक्षीर-विवेकं

कुर्यादन्योहि को जगति ? ॥ २८४ ॥

गरुड ! भवसि खंगराजो-

विष्णोर्वाहनता-प्रसाद एषः ।

तद्दर्पात् कुल धर्मम्

माजहि, दमय पन्नगं निरतम् ॥ २८५ ॥

'उरगो' वमति विषंचेत्

विहगस्त्वं धाव तत्र तत्पूर्वम् ।

तं वशमानयपूर्वं

विषवमनात् कुरु शिवं जगतः ॥ २८६ ॥

मूषिक! रचयसि भूमौ

गहनविलं तत्र रक्षितुं धान्यम् ।

किन्नैतज्जानीषे

अहिरपि त्वां निकषैव तिष्ठति ॥ २८७ ॥

कलयसि मधूनि कुसुमात्

सततं मधुमक्षिके ऽर्थिनां पुष्ट्यै ।

उचितं, भुङ्क्ते जननी

नवजातं पयः पाययितुम् ॥ २८८ ॥

चरणानामुपयोगं

षट्पद! मैवं कृथा वृथा निरतम् ।

पद-साधन-बहुताया-

उपयोगः साधु-कार्यार्यम् ॥ २८९ ॥

भ्रमर! तवेदं सुन्दर-

गुञ्जनमपि भवति गुणिजन-प्रीत्यै ।

वीणा-रव-माधुर्यं

स्वदते नैव खराय किञ्चन ॥ २९० ॥

रामनाम शुक ! श्रावय

पठितं यच्चैव जन्मनः प्रभृति ।

अन्यत् किमपि ब्रूषे

तन्नेष्टाय तव प्रकल्पते ॥ २९१ ॥

कोकिल ! कूजसि पुरतः

तस्य, न जानाति यो रसं मधुरम् ।

तव कण्ठस्वर-सुरसः

किं स्वदते बधिराय लध्वपि ॥ २९२ ॥

आस्ते यो रस-हीनो

व्याहारस्तेन जायते विफलः ।

मरुभूमि-बीज-वपनं

किं कस्यापि फलाय कल्पते ? ॥ २९३ ॥

कुरुषे काक ! मनुष्यम्

वचसा त्वं सावधानमिह पूर्वम् ।

त्वद् वचसि न माधुर्यम्

लोकेनोपेक्ष्यते तस्मात् ॥ २९४ ॥

त्वन्नयनस्यमहत्त्वात्

जातः 'काकाक्षिगोलक-न्यायः' ।

नैव तथापि प्रियत्वं

हितमपि मधुरं सदेव पेयम् ॥ २९५ ॥



पश्यसि नैव दिवात्वम्

चतुर ! उलूक ! तवात्रापि धूर्तत्वम् ।

लक्ष्मीवाहन ! रात्रौ

पश्यसि वसूनि संगृहीतुम् ॥ २९६ ॥

सत्स्वपि बहुषु खगेषु च

अचिनोत् खलु त्वमेव महालक्ष्मीः ।

तमसो योन बिभेतिहि

स भवति तस्याश्च प्रिय-पात्रम् ॥ २९७ ॥

त्वं शुक ! पिञ्जर-बद्धः

सर्वं सौख्यमनायासमनु भवसि ।

वसति तथापि च चित्तम्

स्वातन्त्रायस्वतरुनीडे ॥ २९८ ॥

चातक ! प्रेम-कथाते

काम्या ख्याताच जीविनां मध्ये ।

विरहेऽविरहेचैवं

दाम्पत्य-स्नेह-सद्भावे ॥ २९९ ॥

★

★

★

नकुल ! कृत्यमेतत्ते

सर्वाशीविष-नाशनं जगत्याम् ।

कृष्णसर्पतस्त्वंचेद्

भीतो दुष्टान्हि कोदमयेत् ? ॥ ३०० ॥

वस्त ! त्वमसि महौजा—

अतिवीर्यो याभकोविदोऽजासु ।

आजीवनमिह वह्निं

हव्येनाज्वालय किं लब्धम् ? ॥ ३०१ ॥

अवलोकय मृगराजम्

यः पिशितं द्विरदस्य भुञ्जानोऽपि ।

जितेन्द्रियाणां सरणौ

प्राथम्येन शस्यते जगति ॥ ३०२ ॥

बुद्धौ नासि प्रखरः

त्वं खर ! तेनासि दुर्गतावेवम् ।

यश्चतुरो विश्वस्मिन्

सएवाशनुते फलं मधुरम् ॥ ३०३ ॥

उदरदरी ते पूर्णा

तस्माद् वैशाख-नन्दनः प्रभवसि ।

तुष्यति लब्धे स्वल्पे

सन्तोषो हास्यतां गच्छति ॥ ३०४ ॥

रासभ ! वहसे भारम्

नैवालस्यं तनोषि संज्ञानात् ।

कुरुषे परोपकारम्

मन्दस्योपमानतां यासि ॥ ३०५ ॥

तार्किक बुद्धौ रासभ !

हेत्वाभासेषु पञ्चमो भवसि ।

सर्वं दैवायत्तम्

मन्ये ते हि भाग्य-दर्शनात् ॥ ३०६ ॥

निवससि ग्रामेऽरण्ये

शुकर ! लभसेऽनादरं सर्वत्र ।

विश्वात्मा ते रूपम्

संगृह्यादान्महत्त्वं ते ॥ ३०७ ॥

बलीवर्द ! त्वं युग्यो-

लोक-हिताय साधयसि कृषि-कार्यम् ।

एवंसत्युपमाने

मन्दानां त्वमग्रणीर्भवसि ! ॥ ३०८ ॥

दोषस्ते ऽस्ति गुणानां

यस्मान्नियोज्यसे सर्वकार्येषु ।

सुखं स्वपिति गौर्गलिकः

‘गुणेन दोषो’ भवति लोके ॥ ३०९ ॥

कपे ! त्वदीये वंशे

जज्ञे दाशरथि-प्रियो हनूमान् ।

कुलमणिरेको वंशं

दिनमणिवत् प्रकाशयतितमाम् ॥ ३१० ॥

धेनुस्तृणानि खादति

कलयति दुग्धं परान् हि पोषयितुम् ।

शुक्तिः पिबति च सलिलम्

दत्तेऽन्यस्मै

महारत्नम् ॥ ३११ ॥

मृगराज ! त्वं राजा

वन-जन्तु-संरक्षणंते कार्यम् ।

रक्षयादि संभक्ष्या-

मृगराजत्वं

भवेद्

व्यर्थम् ॥ ३१२ ॥

प्रकृतेर्हि रञ्जनत्वे

राज्ञा राजत्वमाप्यते लोके ।

तन्नहि यदि समवाप्तम्

प्राप्तं किं तेन तत्पदेन ? ॥ ३१३ ॥

मातङ्ग ! त्वं मतिमान्

सुविचर वन-नगरेषु सुमति-गत्या ।

मदजलमादन वशतो-

मतङ्गतां

क्वापिमादर्शय ॥ ३१४ ॥

भवसि प्रियः पशु जातौ

निज-गुण-रूप-स्वभाव-वैशिष्ट्यात् ।

शिशु-युव-वृद्ध-नृपाणाम्

निरतं त्वं मृग ! वन-नगरेषु ॥ ३१५ ॥

★

★

★

हरिणकुणकमवलोक्य हि

जड भरतोऽप्यभून्मोहितः सद्यः ।

अभूत् स्वयं मृगरूपः

त्वन्मोहादपरेऽपि जन्मनि ॥ ३१६ ॥

आयत-चञ्चल-नयना

तव नयनेनैव धन्यतां लभते ।

सुन्दरीषु महिलासु च

प्रथमां पङ्क्तिं हि संभजते ॥ ३१७ ॥

निधनात् परमपि यतिनाम्

सेवां मृदु-भव्य-चर्मणा कुरुषे ।

वर्धयसे तपःशुद्धिम्

तेषामासनतां दधानः ॥ ३१८ ॥

मार्जार ! पिबसि निभृतं

स्थितं कटाहे मधुर पयो नित्यम् ।

गृहपतिरपि धर्तुं त्वां

यतते किन्त्वनिशं समन्ततः ॥ ३१९ ॥

कुक्कुर ! व्रतमेतत्ते

पालयितूरक्षणं निजप्राणैः ।

चौरात् किञ्चिल्लब्ध्वा

मोहान् नर-गुणं समाश्रयसि ॥ ३२० ॥



आलम्बसे च मौनम्

चौरोलभतां यदृच्छया द्रव्यम् ।

धर्माच्च्युतस्यकार्यम्

स्यात्तेस्वजाति - विपरीतम् ॥ ३२१ ॥

चातुर्ये त्वं ख्यातः

निज-पशु-कुल-संरक्षणे प्रवीणः ।

मृगराजान्न बिभेषिच

दूत्ये जम्बूक ! कुशलोऽसि ॥ ३२२ ॥

एवं सत्यपि समये

मत्तःसन् विचरसि वने ग्रामेषु ।

निरपराध-जन्तूनपि

कृन्तसि, हंसि, साम्प्रतं नैतत् ॥ ३२३ ॥

शशक ! त्वमसि च सरलः

तस्मात् त्वां विधुरपि संधरति वपुषि ।

विहरसि वने च सदने

कस्यास्तीदृशं सौभाग्यम् ? ॥ ३२४ ॥

मतिमान् विविच्यपूर्वं

कुरुते पश्चात् सुनिश्चितं कर्म ।

मूर्खः पूर्वं कुरुते

पश्चात्तद्विपरीतमश्नुते ॥ ३२५ ॥



धीरो विपदि न विचलति

विरमति कार्यान्न कुत्रचिन्त्याय्यात् ।

धैर्यबलं सहयोगं

भगवानपि सत्त्वरं कुरुते ॥ ३२६ ॥

सत्पुरुषः परपीडां

सहतेनैव, तत् पीडनं हरते ।

नीचः परपीडायै

यतते, स्वयमपि काट्मनुभवन् ॥ ३२७ ॥

सन्तोषिन् मा चिन्तां

कुरु, लोभि-जनं विलोक्य वर्धमानम् ।

पीत्वा तुष्टि-सुधात्वं

प्राप्स्यसि मुक्तिं, बन्धनं लुब्धः ॥ ३२८ ॥

पिशुन! फलं किं लभसे ?

जनयोर्मध्ये विषादमुत्पाद्य ।

तौ समये सम्मिलितौ

स्यातां, त्वं कुत्रावधिष्ठसे ? ॥ ३२९ ॥

एकोऽपिहि कुलदीपः

तनयः श्रेष्ठो बहुषु च कुपुत्रेषु ।

दृष्टान्तोऽत्र सुधांशुः

व्याप्त-तारकमण्डले नभसि ॥ ३३० ॥

लोके सज्जन-मैत्री

दिवसपरार्द्धच्छायेव वर्धते ।

खलमैत्री पूर्वार्ष-  
-

च्छायेवदीर्घाक्रमाद् हसति ॥ ३३१ ॥

कामोमनसिजरूपो-

भवति महारिर्यथा तथानान्यः ।

हरते बुद्धि-विवेकौ

गमयति च हठाद् बलात्कार्ये ॥ ३३२ ॥

आजन्मनोयतात्मा

नीरे दृष्ट्वा हि सौभरिर्मिनौ ।

कामासक्तो जातः

पञ्चाशतमुवाह नृप-कन्याः ॥ ३३३ ॥

जननेन्द्रियनिग्रहणम्

कठिनतमं जगति जायते कार्यम् ।

तत्र कोऽपि यदि भीष्मति

सोऽस्ति महामानवो नूनम् ॥ ३३४ ॥

साधुर्जनाय यतते

भुङ्क्ते स्वार्थायकेवलं कृपणः ।

साधु भवति महात्मा

कृपणस्तु दुरात्मना ख्यातः ॥ ३३५ ॥

सुजनः समादराणां

भवति सुपात्रं जनेषु सर्वत्र ।

दुर्जन आदर-रहितो

लोके तिरस्क्रियते सर्वैः ॥ ३३६ ॥

लोभ-क्रोधावनुजौ

विचरतः काम ! तवानिशं पार्श्वे ।

तावपि कुरुतो नाशम्

बलान्नरस्य प्रसादात्ते ॥ ३३७ ॥

जनितो मनुजो द्विपदः

प्रियतमया सहितो भवति चतुष्पात् ।

सुत-सहितः षट्चरणो-

मकरीकृमिवत् तत्सुतैः सह ॥ ३३८ ॥

जीव-समूहे मानव !

भवसि वरिष्ठो ज्ञानिनां श्रेष्ठश्च ।

कर्म-ज्ञानेन्द्रियाणि च

तवैव खलु सन्ति सार्थकानि ॥ ३३९ ॥

गति-बुद्धि-प्रज्ञाभिः

सदसन्निखिल-पदार्थ-विवेचनेषु ।

कर्माकर्म-विकर्मसु

त्वं भवसि चाग्रणीर्जीवेषु ॥ ३४० ॥

दनुज-मनुज-सुर-किन्नर-

यक्ष-गन्धर्व-रक्षसां मध्येऽपि ।

कर्म-स्वातन्त्र्य-वशात्

सर्वश्रेष्ठोऽसि जीवानाम् ॥ ३४१ ॥

षोडशस्वीश-कलासुच

विराजसे त्वमत्राष्टमे स्थाने ।

सुकर्मणातूर्ध्वगतिः

पतनं दुष्कर्मणा नूनम् ॥ ३४२ ॥

सफल-प्रयत्न-योगात्

उच्चस्थानेऽभवत् तवागमनम् ।

तेन त्वयाहि प्राप्तम्

काम्यञ्चारोहणं त्वेतत् ॥ ३४३ ॥

आसाद्य मध्य-बिन्दुम्

पौरुष-दैव-बलात् त्वमद्य लोके ।

विचलसि कर्म-पथाच्चेत्

स्यान्मानव ! जन्म-वैफल्यम् ॥ ३४४ ॥

शरीरस्य सम-गतये

पदयोरुभयोः समागतिः काम्या ।

यदि ते चासन्तुलिते

निपतनं देहस्य निश्चितम् ॥ ३४५ ॥

★

★

★

नग-वन-सवन-नदीना-

मगणित-गुरु-गम्भीर-नीर धीनाम् ।

प्रवहत्प्रभञ्जनानां

वक्षसि दधती च गुरु-भारम् ॥ ३४६ ॥

वसुधे ! विचरसि गगने

विचलसि न निश्चितसीमतः कदापि ।

कलयन्ती सन्तुलनम्

प्रभवसि कस्य न कौतुकाय ॥ ३४७ ॥

लघु-गुरु-विग्रह-ग्रहाः

संख्यातीत-विशाल-नक्षत्राणि ।

सौरमण्डलं नैकम्

ब्रह्माण्डे विभो ! तवैश्वर्यम् ॥ ३४८ ॥

स्थूलंकृशं शरीरं

वहतिहि जीवे नजायते भारः ।

ब्रह्माण्डञ्च तथेदं

विभो ! नतेप्रभवति भाराय ॥ ३४९ ॥

पातकपुञ्ज-समानं

पुण्यानां पुञ्जमपि भवति नृणाम् ।

लौही कनकमयीवा

पाद-शृङ्खला समा भवति ॥ ३५० ॥

परहित-करणे लोकेऽ

वश्यं कष्टं प्रजायतेकर्तुः ।

द्विदलति भूमौ बीजं

दातुं लोकाय सच्छायाम् ॥ ३५१ ॥

वृक्षस्तापं सहते

दातुं पथिकाय शीतलां छायाम् ।

दहति धरा निजगात्रम्

दातुं सस्यानि लोकेभ्यः ॥ ३५२ ॥

मनोरथा धनिकानाम्

लोके फलिनो भवन्ति सर्वत्र ।

मेघा वारि-सुपूर्णाः—

वृष्टिं कुर्वन्ति लोकेऽस्मिन् ॥ ३५३ ॥

पाप्यर्जित-वित्तानाम्

उपयोगं कुर्वन्ति समे स्वजनाः ।

पापी दुष्कृत-भोगं

भुङ्क्ते त्वेकोहि संसारे ॥ ३५४ ॥

असुरक्षितः स्वसदने

जीवःपर-सदने रक्षितो भवति ।

अनुकूले सति दैवे

कालोऽप्यनुकूलतां याति ॥ ३५५ ॥



अवरोद्धुं नगराजं

नीचैः पतनात् स्वपादमुत्थाय— ।

टिट्ठिभ ! स्वपिषि निशायां

हसति जनः, पश्यस्वांशक्तिम् ॥ ३५६ ॥

निजपौरुषमाकलयन्

मनुजः कुर्याज्जगति स्वं कार्यम् ।

टिट्ठिभायते यस्त्वह

हास्यास्पदतां स यात्यत्र ॥ ३५७ ॥

पर-गुण-कथनेसन्तः

साफल्यं मन्वतेतमां वाचः ।

तत्र भवेन्मौनित्वं

तदसह्यं मानसं शल्यम् ॥ ३५८ ॥

पश्यति यः पर-दोषम्

पर-गुण विषये निमीलयति नेत्रे ।

कुसुमं विहाय कण्टम्

चिनुते यस्तस्यं किं वाच्यम् ॥ ३५९ ॥

सर्षपसम परगुणमपि

प्रगुणीकरोति नगराजमिव सुजनः ।

गणयति नहि पर-दोषम्

सन्तोषं लभमान आत्मनि ॥ ३६० ॥

दुर्जन-सुजनाकृत्यो

र्भेदो न च कोऽपि लक्ष्यते रूपात् ।

व्याहाराद् व्यवहारात्

तद्भिन्नत्वं दृश्यते एव ॥ ३६१ ॥

★

★

★

कनकाचल ! तव विषये

श्रावं श्रावं ह्यलौकिकीं वार्ताम् ।

उत्सुकता जन-हृदये

द्रष्टुं त्वां वर्धते लोके ॥ ३६२ ॥

धनाधिपो यदि कृपणः

किं फलमेतस्य धनेन जायते ।

किन्न वरीयान् चूतः

स्वर्गस्यात् कल्पवृक्षाद्धि ॥ ३६३ ॥

जनहितकृद् यदि लोके

द्रव्यं तस्यैव जायते ख्यातिः ।

रत्नाकरोहि नाम्ना

क्षार-नीरं दृश्यते तस्य ॥ ३६४ ॥

साम्बिधानिको नियमो-

धृतदण्डो यमराजतीह लोके ।

इन्द्रगोपतोहीन्द्रं

यावत् कुरुते निजं कार्यम् ॥ ३६५ ॥

कश्चिद् भवतु विधायी

भवतु कोऽपि संसदो महान्नेता ।

सचिवोराष्ट्राध्यक्षो

नियमाचरणे 'समै' भव्यम् ॥ ३६६ ॥

कुरुते कोऽप्यधिकारी

पद-सत्ताया दूषितोपयोगम् ।

भुङ्क्ते फल मनुरूपम्

निष्पक्षत्वेन न्यायस्य ॥ ३६७ ॥

आप्तः स एव पुरुषो-

योरगादपि नैवानृतं वक्ति ।

जानाति वस्तुतत्त्वम्

सर्वं स्वानुभवाज्जगतः ॥ ३६८ ॥

गर्त-निहित-धनराशेः

प्रभवति यदि कोपि वित्तवान् लोके ।

अहमपि कथञ्चु तस्माद्

धनादेव भवेयमिह धनिकः ॥ ३६९ ॥

अतलं वितलं सुतलं

तलातल-महातल-रसातलनिच ।

गम्भीरं पातालम्

भूस्थानानि भोगिनां भोक्तुम् ॥ ३७० ॥

केवल भारतवर्ष

कर्मस्थानं निगद्यते लोके ।

अत्रैव कर्म-बलतो-

मनुजो ब्रह्मत्वमाप्नोति ॥ ३७१ ॥

उदिते सवितरि गगने

प्रसरति भानावुत्तिष्ठते लोकः ।

तमसि तथापिच शेते

मूढस्तद्दूषणं कस्य ॥ ३७२ ॥

विधिरपि भवति सहायः

प्रथमं यः करोति पौरुषाद् यत्नम् ।

विधि-पौरुष-संयोगात्

लोकः प्राप्नोति साफल्यम् ॥ ३७३ ॥

पौरुषबले न कुर्यान्

मनुजोदर्पं कदाचिदपि लोके ।

भगवद् बलेऽपि निरतं

विश्वासः फलप्रदो भवति ॥ ३७४ ॥

कर्त्रधिष्ठान करणं

सद्व्यापारश्च पञ्चमं दैवम् ।

मिलितेष्वेषु च पञ्चसु

कार्ये सिद्धिर्भवतिसुतराम् ॥ ३७५ ॥

सत्कविना शब्दार्थौ

युगलौ काव्ये यथाहि काम्येते ।

तद्वद् विधि-पौरुषयोः

कुरुते विद्वान् सदुपयोगम् ॥ ३७६ ॥

जनयति जननी तनयम्

प्रेरयते निरतं हि प्रेयसां पथि ।

विद्यामातापुत्रं

‘प्रेरयति’ श्रेयसां मार्गे ॥ ३७७ ॥

कुरुते लोकः पापम्

वाञ्छति सुफलं सदाहि पुण्यस्य ।

किन्नेयं खलु लोके

कर्तुहिविडम्बना विमतेः ॥ ३७८ ॥

रोपयते खलु निम्बं

स्वादयितुमिच्छति मधुरमाग्ररसम् ।

वैपरीत्यमितिबुद्धे-

र्जनयति मोहं मनुज-हृदये ॥ ३७९ ॥

भुजगः पयसः पानं

कृत्वापि विषमेवोद्वमति निरतम् ।

क्षारं जलमपिपायं-

पायं गावः पयो ददते ॥ ३८० ॥

भूमिजलेसमरूपे

अनिलानलगगनान्येकरूपाणि ।

इक्षुदण्ड-शरदण्डे

नैव ददाते रसं तुल्यम् ॥ ३८१ ॥

बीजं परम-महत्त्वं

धत्ते लोके नचात्र विचिकित्सा ।

फल भेदे नहिकुत्सा

बीज-चिकित्सा हि करणीया ॥ ३८२ ॥

आदित्यैः सह दैत्याः

सुरवर्यैः सममसुराः समागमन् ।

सुधया हलाहलोऽभूत्

सुहृदासह रिपुरप्यागमत् ॥ ३८३ ॥

कण्टकेन सह कुसुमम्

तरलैर्वस्तुभिरेधितं कठोरम् ।

अहि-वृश्चिक-दंशैः सह

विषवैद्योऽपिप्रजायतेऽत्र ॥ ३८४ ॥

यदि शशिदिवाकरौ स्तो-

दीपयितुं किरणैर्जगत् समग्रम् ।

कटिबन्धे तमोग्रहौ

यतमानौ तमसावृतुं हि तत् ॥ ३८५ ॥



प्रकृते वैषम्यमेतत्

त्रिगुण-प्रभवं विलक्ष्यते सृष्टौ ।

विषम-प्रकृते मूलाज्

जीवोऽप्यायात्यसमदेहे ॥ ३८६ ॥

देवासु-रसंग्रामा-

येऽभूवन् प्राग्भवन्ति लोकेऽद्य ।

तानवरोद्धुं शक्ति-

विद्यते विवेकि-मानवेषु ॥ ३८७ ॥

अतएव यम-नियमा-

वाचरणीयौनरेण लोकेऽस्मिन् ।

सन्मति-वृत्ति-विवेकै-

र्गीताऽऽदेशोऽनुसर्तव्यः ॥ ३८८ ॥

रमा प्रवत्स्यत्पतिका

वर्षर्तुं नैव चेहते द्रष्टुम् ।

कृषकस्तं कामयते

इत्थं किं वारिदः कुर्यात्? ॥ ३८९ ॥

यदि तवासि गमनेच्छा

याहि नाथ ! यथेच्छं यथाकालम् ।

मावद वारम्वारम्

'यामि यामि' निष्ठुरं वचनम् ॥ ३९० ॥

सरस-कुसुम-शय्यायां

सुखं शयाना प्रिया प्रियतमाङ्गे ।

प्रवहति सुगन्धि-वायौ

स्वर्गीयं सुखमनुभवन्त्यपि ॥ ३९१ ॥

दृष्ट्वा पश्चिमगगने

विहाय रजनीं सुधाकरं यान्तम् ।

वहति नयन-जलधारा

पत्युर्मुखं विलोकयन्त्याः ॥ ३९२ ॥

तनुयुगलेऽप्येकात्मा

ततोऽर्द्धनारीश्वरेऽभवद् द्वैतम् ।

प्रियतम-पदमारूढो-

जातः सम्प्रति पतिः, स्वामी ॥ ३९३ ॥

★

★

★

शिक्षायां बलघातः

कल्पे शुल्ब-सूत्रादि-विन्यासः ।

अर्थान् परितः प्राप्तुम्

शल्य-विधिनिर्वचनशास्त्रे ॥ ३९४ ॥

छन्दसि पिङ्गलयोगः

ज्योतिष्येव दुर्ग्रह-ग्रह-ग्रहणम् ।

व्याकरणेहि निपातो

लुब्-विभक्ति-विग्रह-व्यासाः ॥ ३९५ ॥

व्यत्यय-वर्ण-विकाराः

ठक् ठञ् कञ् क्वरपादि प्रत्ययेषु ।

अधिकारस्य नियोगः

असिद्धान्तरङ्ग-बहिरङ्गाः ॥ ३९६ ॥

अप्रत्ययो ऽप्यधातुः

वर्णसमूहोऽर्थवान् व्यवहारेतु ।

सांख्येऽहंकृति-योगो-

न्यायेच्छल-निग्रहस्थाने ॥ ३९७ ॥

वैशेषिके-त्वभावो

योग-शासने प्राणावरोधादि ।

मीमांसायां ख्यानं

श्रुतिलिङ्गादीनां प्रबलस्य ॥ ३९८ ॥

मायाऽविद्या-कलहो

वेदान्तेष्वेव क्वापि नान्यत्र ।

अतिप्राचीने काले

नासीद् दण्ड्यो न दाण्डिकोऽत्र ॥ ३९९ ॥

यम-नियम-प्राबल्यात्

आत्मज्ञान-प्रभाव-सामर्थ्यात् ।

धर्मः पालयतिस्म

लोकान् सर्वान् स्वनियमेन ॥ ४०० ॥

त्यागात् परमा शान्ति—

र्भवतिहि लोके विलोक्यते लोकैः ।

संगृह्णातिच वित्तम्

पित्तं रात्रिन्दिवं कुप्यति ॥४०१॥

कृते गुरौ सुविचारे

उत्तम-शिष्यः प्रसाधयति कृत्यम् ।

मध्यम उक्तः कुरुते

शृण्वन्नपि च नाधमश्चलति ॥४०२॥

नमति प्रणमति विनमति

कृपणं लभते नचेहितं दीनः ।

पूरयते च कृपालु—

र्मनोरथं तस्य कथनादपि ॥४०३॥

स्निह्यति मित्रति कुप्यति

द्रुह्यति बिभेति द्वेषि कामयते ।

सुखयति समर्पयति चेल्

लभते स समीहितं कृष्णात् ॥४०४॥

स्थानं नूलं द्रष्टुं

पातुञ्चामर-पुरी-सुधां मधुराम् ।

महतां चरितं श्रोतुम्

नकस्य कुतूहलि मनो भवति ? ॥४०५॥

वसुधाया एकत्वाद्

भूमण्डलीभाव - संधानाच्च ।

जगतीतल-घटनानां

सम्यग् ज्ञानमधुना सुलभम् ॥ ४०६ ॥

विमानसेवावशतो-

गमनं सरलं विहायसा जातम् ।

श्रुतपूर्ववस्तु जगतः

प्रत्यक्षं दृश्यते लोकैः ॥ ४०७ ॥

आश्चर्याणि जगत्या-

यान्यासन-श्रोत्रयोः पुराकाले ।

अधुना तानि बहूना-

मागतानि दृष्टि-गोचराणि ॥ ४०८ ॥

समशीतोष्णं सुखदं

सर्वर्तुषु सर्वत्रातिशातदम् ।

विविधैरत्युपकरणैः

कमनीयैर्मनोहरैर्जुष्टम् ॥ ४०९ ॥

मनोजवं सुविमानम्

पुरा समुद्गीयमानमत्रासीत् ।

निर्मिति-विधिमेतस्य च

विमानशास्त्रं प्रकाशयते ॥ ४१० ॥



गगनेऽमुष्य विचरतो

नैकाश्चर्चा मिलन्ति पुराणेषु ।

कौवेरं सुविमानं

नीत्वा यद् रावणो व्यचरत् ॥ ४११ ॥

तपोबलाद् ऋषिवर्यः

कर्दम उपलभ्य कामगं-विमानम् ।

प्रियया च देवहृत्या

वर्षं मधुयामिनीर्विदधे ॥ ४१२ ॥

पुरु-कुलमणि-दुष्यन्तः

स्वर्गादागच्छद् भुवि विमानेन ।

मातलिना सहमरुतां

दिव्य-पथेन संचरन् वियति ॥ ४१३ ॥

पारिजात-तरुराजं

नीत्वा प्रियतमया भामया साकम् ।

स्वर्लोकादागच्छत्

द्वारकां विमानतः कृष्णः ॥ ४१४ ॥

चित्ररथो गन्धर्वो-

व्यचरद् गगनेऽनेकधा विमानात् ।

तदाविमान-दुर्घटनाऽ

प्यभूत्किलैकदा मरुभूमौ ॥ ४१५ ॥



निरमाच्च विश्वकर्मा

दनुजमयोऽपि कानिचिद् विमानानि ।

सुरासुराश्च व्यचरन्

यानैस्तैर्विभिन्नलोकेषु ॥ ४१६ ॥

इत्याद्यनेक चर्चाः

पूर्वकालीन-विमान-सन्दर्भे ।

ऋद्ध-सिद्ध-पुरुषाणां

विषये मिलन्ति, न समाजस्य ॥ ४१७ ॥

ज्ञान-गुहायां निहितं

तथ्यं संप्रकाशयति विज्ञानम् ।

चन्द्र-कुज-ग्रह-यानम्

सर्वं सम्यक् प्रमाणयति ॥ ४१८ ॥

अतएव भारतीयं

शास्त्रं सकलं विचिन्त्य विज्ञानम् ।

ज्ञानंपरं विधत्ते

विज्ञेयं तत्त्वमेतस्य ॥ ४१९ ॥

सम्प्रथितेयं पृथ्वी

जलानलानिल-गगनानि समान्यत्र ।

भाषाऽऽकृति-वर्णादौ

समता नचास्त्यत्र सर्वत्र ॥ ४२० ॥

सर्वत्रोत्पद्यन्ते

नच वस्तूनि समानि सम-रूपेण ।

आम्रं भारत-भूमौ

विरलंतत् पश्चिमे देशे ॥ ४२१ ॥

वारिद-बिन्दून् पीत्वा

शुक्तिः सूतेहि मौक्तिकं रत्नम् ।

गोधा तानपि पीत्वा

मूत्रयति न चैव तज्जनयति ॥ ४२२ ॥

समापिपृथ्वी जनयति

नच वस्तूनि समरसानि चैकत्र ।

बीज-मृदो वैशिष्ट्याद्

विलक्षणत्वाच्च तत्-प्रकृतेः ॥ ४२३ ॥

प्रकृतेर्गुण-वैषम्याद्

वैलक्षण्यं हि जायते जीविषु ।

कर्मजन्य-वैशिष्ट्यम्

गुणत्रये जायते नूनम् ॥ ४२४ ॥

अथवा गुण-वैशिष्ट्यात्

सकलं तत्कर्म विलक्षणं भवति ।

एतन्निश्चय-बोधो

भवति च बीजाङ्कुर-न्यायात् ॥ ४२५ ॥

एवंसति पशु-नरयो-

विवेकमूलको जायते भेदः ।

मनुजे विवेक-रहिते

पशुताऽऽयाति, कर्म तादृशम् ॥ ४२६ ॥

सद्विद्या, सद्धर्मः,

सत्कर्म, सदाचरणं सत्सङ्गः ।

जनयन्ति सद्विवेकं

यस्माद् विश्वमङ्गलं भवति ॥ ४२७ ॥

कृत-प्रयोगो विषयो

दधाति दृढतां कर्मणि विवेके च ।

दृष्टस्तत्परिणामः

कर्म-प्रयोजनं सुदृढयति ॥ ४२८ ॥

राजनीति-पुरुषाणां

विधि-न्याय-शासकानाञ्च ख्यानात् ।

धर्मोऽभून्निरपेक्षो

राष्ट्र-व्यवहारे सर्वत्र ॥ ४२९ ॥

यत् फलमभवद्देशे

शोषण-लुण्टन-विरोध-संघर्षाः ।

दृष्ट्वाप्येवं पुरुषाः

धर्मं काम्यं तिरस्कुर्वते ॥ ४३० ॥

सेतो बन्धः प्रवहति

नीरेऽपि कर्तव्य इति सत्रीतिः ।

देश-समाजौ रक्ष्यौ

शासक-राजपुरुषैर्यत्नात् ॥ ४३१ ॥

अबलं कृशमपि क्रशयति

सबलो लोके ऽनुभवन्नतिमोदम् ।

मात्स्यन्यायः प्रसरति

शास्ता तन्नावलोकयते ॥ ४३२ ॥

सम्प्रति परम्परांप्रति

नादरभावो विलोक्यते लोके ।

भौतिक-सुखलाभार्थं

यततेऽनर्थाय संचरते ॥ ४३३ ॥

किमयं कलियुगधर्मो

ह्यथवा देशान्तर-प्रभाव-फलम् ।

भूमण्डलमिदमखिलं

यस्मान्नीडायते चैकम् ॥ ४३४ ॥

द्वीपान्तर-प्रभावो-

जातोयस्तत्र दूषिताचारात् ।

यमनियम-प्रतिकूलः

प्रसरति यः साम्प्रतं देशे ॥ ४३५ ॥

भौतिक-समृद्धये वा

यस्तूपायो ऽवलम्ब्यते तत्र ।

कथमिह तस्य प्रभावो

नहिक्वचनविलोक्यते कश्चित् ॥ ४३६ ॥

नूनमयं युगधर्मः

जगदीशेच्छाहि कारणं यस्मात् ।

साधुः सीदति पङ्केऽ

साधुःसिद्धेरङ्के लसति ॥ ४३७ ॥

कले ! किमित्थं बाल्ये

सन्तत मौद्धत्यमाचरसि लोके ? ।

राज्ञा परीक्षिता ते

वस्तुं पञ्चैव दत्तानि ॥ ४३८ ॥

घृतं पानं सूना

कुलटा कनकञ्च भोग्य-स्थानानि ।

एतेष्वेवहि विचरन्

वर्तस्वान्यत्र माधाव ॥ ४३९ ॥

एवञ्च निगृहीतोऽपि

अभितः परितः प्रसारयसि पादौ ।

राजा, मन्त्री, सचिवः

शासक-सांसद-विधायकाः सर्वे ॥ ४४० ॥

विधिविन् न्यायाधीशः

व्यापार्यरक्षि-जनपालाश्चापि ।

कार्यालयाधिकारी

तव जालेकले समागताः ॥ ४४१ ॥

जानीषे परिणामम्

प्रसरन्तं तस्य विषमयं जनेषु ।

कुरुषे चैवं बाल्ये

यौवनकाले विधास्यसे त्वं किम्? ॥ ४४२ ॥

शिबि-दधीचि-बलि-सदृशा-

नैकेऽभूवन् महादानिनोयत्र ।

तत्र यदि स्वार्थान्धा-

विलसन्ति हन्त महत् कष्टम् ॥ ४४३ ॥

श्रवण-भीष्म-'पुरु'-तुल्याः

पुत्रा यत्र पितृ-सेवका जाताः ।

तिरस्कुर्वते केचन

पितृन् मातृश्च तत्र साम्प्रतम् ॥ ४४४ ॥

सत्यनसूया सीता-

स्तुल्या यत्र सीमन्तिनी मणयः ।

अवभन् पूज्या धन्या-

लोके सर्वत्र सम्मान्याः ॥ ४४५ ॥



तत्र लोक-सम्मर्द्देऽ

धुनानृत्यन्ति दिगम्बरा वामाः ।

द्रव्याधिक-लाभार्थम्

पातुं सुरां कुलाधयो नट्यः ॥ ४४६ ॥

तुलाधरो व्यापारी

यत्राकार्षीन्नयेन वाणिज्यम् ।

तत्राद्य व्यापारे

हा प्राणहृद् वस्तु-मिश्रणम् ॥ ४४७ ॥

मनसिच वचसिच कार्ये

आसीद्यत्र हि सनातनो धर्मः ।

साम्प्रतमिह सर्वस्मात्

स्थानान्निःसार्यते सोऽपि ॥ ४४८ ॥

सत्यं त्याज्यं नासीद्

वृत्त्यर्थे प्राण-संकटे वापि ।

तत्रच मिथ्या वचनम्

जातंवृत्ति-साधनं त्वद्य ॥ ४४९ ॥

★

★

★

सित-शिव-मन्दिर-तुल्यम्

नगराजोन्नत-शिखरमिवक्वापि ।

क्वापिच वितत-वितानम्

सन्तानं सित-वाससः क्वचित् ॥ ४५० ॥

विकसित-सित 'तुल'-तुल्यम्

जल-संभृत-धूम-कदम्बमिवक्वचित् ।

पवनरथेन चरन्तं

विहरन्तं वलाहकं वीक्ष्य ॥ ४५१ ॥

तमसहमानं तरसा

सहसा चोत्प्रेक्ष्य तन्महानादम् ।

गर्जद् व्योमविमानम्

सदर्पमग्रे समुड्डीनम् ॥ ४५२ ॥

सुर-वर्त्मनि मे क्षेत्रे

गर्जद् गच्छसि विमान ! किं दर्पात् ? ।

अवतर समये द्रक्ष्यसि

मत्पौरुषमाहवेमार्गे ॥ ४५३ ॥

यात्रिणां चहत्कम्पः

सञ्जातं स्वेष्टदेवता-स्मरणम् ।

वारिद-विमानयुद्धं

पश्यन् लोमहर्षणं महत् ॥ ४५४ ॥

विज्ञानेन प्रकृते-

रासीद् युद्धं भयावहं त्वेतत् ।

विज्ञानस्य सुविजयो-

दृष्टोमोदावहश्चान्ते ॥ ४५५ ॥

युक्तं नवोपकरणैः

केन्द्रं सुमनोहरं चिकित्सायाः ।

उपसंचालितमासीद्

विशिष्टचिकित्सकेनैकेन ॥ ४५६ ॥

आगच्छन्तोदूरा-

दासनूरुग्णास्तस्यप्रख्यातेः ।

केन्द्रे रोग-विमुक्त्यै

स्वस्था बहवोहि संजाताः ॥ ४५७ ॥

मृदुभाषी स्मितवदनः

सफल चिकित्सा-लब्ध-विभव-कीर्तिः ।

स्वव्यवसाये व्यस्तोऽ

निशमासीद् रोग-निर्मुक्त्यै ॥ ४५८ ॥

एका समृद्ध-महिला

रुग्णातत्रागमत् चिकित्सार्थम् ।

चिररुग्णां सुसमृद्धां

मनसा तां चिकित्सयामास ॥ ४५९ ॥

द्रव्यं तद् भैषज्यम्

“सन्तुलयन् स द्वयं मनोयोगात् ।

व्यधाच्चिकित्सां तस्याः

स्वास्थ्येऽभून्नान्तरं किञ्चित् ॥ ४६० ॥

सम्बत्सरोव्यतीतो

रुग्णात्यन्तं विषादमन्वभवत् ।

भिषजोमनः प्रसादं

ज्ञात्वा सा नैव ब्रूते स्म ॥४६१॥

लब्ध-विशिष्टोपाधिः

तत्तनयो भिषगागतो विदेशात् ।

प्राह सविनयं पितरम्

“भारं न्यस्य कुरुष्व विश्रमम्” ॥४६२॥

नासि पटुर्व्यवहारे

द्वित्रान् दिवसान् परीक्ष्यसे पुत्रक ! ।

नूतन भिषग्वरोऽसौ

पर्येक्षत रोगिणः केन्द्रे ॥४६३॥

चिररुग्णां महिलां ताम्

संपरीक्ष्यादाद्भेषजं तस्यै ।

स्वौषध-प्रभावमचिरं

दृष्ट्वा तदाह मुदा पितरम् ॥४६४॥

स्वशिरसि करौ निधानः

प्राहपिता हन्त पुत्र ! कुलदीपक ! ।

तमोमयं गृहमकरोः

शून्यं पश्यामि खलु सर्वम् ॥४६५॥

भगिनी-विवाह-चिन्ता

नास्ति लवणेन्धन-चिन्तनं गृहस्य ।

तिष्ठेत् कथं प्रतिष्ठा

जन-समवायेऽस्ति तच्चिन्ता ? ॥ ४६६ ॥

गच्छ विदेशं शीघ्रं

दर्शय सर्वं स्वकौशलं तत्र ।

चिकित्सक-व्यवसाये

माकुरु विघ्नं स्वदेशेऽत्र ॥ ४६७ ॥

अधिवक्ता सहिकुशलो-

वादि-प्रतिवादि-पक्षयोरुभयोः ।

यो गृह्णीते द्रव्यम्

दीर्घीकुर्वन् तदभियोगम् ॥ ४६८ ॥

सम्प्रति नेता निपुणो-

यः कस्मिन्नपि दले भवति मन्त्री ।

स्वदलं प्रबलं कर्तुम्

दलमन्यद् विदलयति निरतम् ॥ ४६९ ॥

मन्त्री निपुणो निगदति

कुरुतेऽनारतं हि तद् विपरीतम् ।

वचसा परमुपकुरुते

कर्मणा च साधयति स्वार्थम् ॥ ४७० ॥

वक्त्रा स एव कुशलः

प्रभाषते यो यदृच्छया यत्तत् ।

दर्शयते वाग्मित्वम्

यस्तं कोनुशृणुयात्लोके ॥ ४७१ ॥

अभिनेत्री सा निपुणा

दिगम्बराङ्गानि याहि दर्शयते ।

चित्रे वा चलचित्रे

लब्धुं हि यदृच्छया द्रव्यम् ॥ ४७२ ॥

अभिनेता यदि नेता

अभिनेतृत्वं समाचरति सम्यक् ।

हसति हासयति सर्वान्

साफल्यञ्च मन्यतेऽनेन ॥ ४७३ ॥

नव-भाजन-संलग्नः

संस्कारो यथाहि याति सुदृढताम् ।

बालानां संस्कारः

शिक्षया तथैव दृढो भवति ॥ ४७४ ॥

नीति-धर्मयोः शिक्षा-

रहिता देशे भवन्ति मे बालाः ।

कुत्सित-चलचित्राणाम्

दुष्परिणाम-प्रभाविताश्च ॥ ४७५ ॥



यत्केनोपायेन च

वित्तार्जनमेव जीवने लक्ष्यम् ।

राजनीति-पुरुषाणाम्

अभवद् धर्मपथं तिरस्कृत्य ॥ ४७६ ॥

धर्म एव निरपेक्षः

राष्ट्रे यस्माद् व्यजायत प्रत्यक् ।

धर्माचरणं लोकै-

स्त्यक्तं न्यस्तं च कृत्यं यत् ॥ ४७७ ॥

एतत् प्रयोग-कुफलं

लोके सर्वत्र दृश्यतेऽस्माभिः ।

तदपि सुयत्नं कर्तुं

तदवरोद्धुमिष्यते नैव ॥ ४७८ ॥

सामाजिक-संघर्षे

साम्प्रतमस्ति यन्मौलिकं करणम् ।

तद्ध्येयञ्च सुमनसा

रामराज्यमानेतुमत्रहि ॥ ४७९ ॥

विद्वज्जन-मुख-वाणी

वाणी-वीणा-स्वर-जात-लहरीव ।

आकर्षति बुध-विबुधान्

सुश्रोतुं बलात् सतांसदसि ॥ ४८० ॥

श्रुतपूर्वाणां नृणाम्

समुत्सुकानां विपश्चितां सुधियाम् ।

मानस-वृत्तिस्तुल्या

सद्वचनामृत-रसं पातुम् ॥ ४८१ ॥

शास्त्रतत्त्व-मर्मज्ञो-

वयसालधुरपि सदासनं रोहति ।

सत्स्वपि वृद्धमहर्षिषु

शुको भागवतं प्रावोचत ॥ ४८२ ॥

अद्यतनं ते मधुरम्

मधुरं कालत्रयेऽपि ते कार्यम् ।

भव्यं भवतो मार्गात्

प्रविशति भूतेहि निर्बाधम् ॥ ४८३ ॥

भवत्काल-पलकत्वम्

शोच्यं नहि कदापि मानवैर्नूनम् ।

भूत-भव्य-निर्माणं

कुरुते पलकेन प्रज्ञावान् ॥ ४८४ ॥

स्वप्नं द्रष्टुं मधुरम्

मधुरं विहगावलोकनं कर्तुम् ।

आधातुं नरिमधुरम्

मधुरमद्यतनमेव विधेयम् ॥ ४८५ ॥

श्वः स्वास्थ्यं सन्धातुम्

भवति चिकित्साद्यैव विधातव्या ।

भूते का विचिकित्सा

पश्चात्तापो न कर्त्तव्यः ॥ ४८६ ॥

क्रियमाण-कर्म-योगाल्

लब्धुं शक्तः समीहितं यत् तत् ।

प्रारब्धाधीनत्वं

भवति न कर्मयोगिनां मार्गं ॥ ४८७ ॥

विश्व-भ्रमणं विद्धत्

पश्यन् तत्रत्य-महासाम्राज्यम् ।

चरित्राणि विवधानां

शिशु-किशोर-युवक-वृद्धानाम् ॥ ४८८ ॥

न्याय-विधिं निष्पक्षं

शासित-शासक-बहु-व्यवहारोश्च ।

विविच्यैवमवगच्छम्

लोके तत्राप्यशान्तिरेव ॥ ४८९ ॥

पशु-नर-विभाग-रेखा

क्षीणातत्रावलोक्यते परितः ।

मति-विवेक-हीनत्वं

येनाद्य समन्ततो व्याप्तम् ॥ ४९० ॥

पयः पाययन् भुजगं

पोषयते ऽमेरिकाद्य यं देशम् ।

स श्वो ध्रुवं करिष्यति

घातं तस्याप्यहं मन्ये ॥४९१॥

भोगिवाद-प्राधान्यात्

पोष्यं तत्र शरीरमेव यत्नात् ।

इहलोकादपरस्मिन्

यातायात-चिन्तनं नैव ॥४९२॥

धन-कुबेर-महिमानम्

लोको जानाति तं च कामयते ।

जिजीविषा हि मनुष्ये

भोक्तुं भोग्यं सुधां पीत्वा ॥४९३॥

विज्ञानी संपूज्यः

भोग्यं प्राप्तुं हि यो ऽनुसन्धत्ते ।

ज्ञानी हास्यास्पदतां

लभते विज्ञानिनां मध्ये ॥४९४॥

विज्ञानेन समंयत्

भवति विशिष्टः समन्वयो ज्ञाने ।

शान्तेस्तत्रच राज्यम्

तदभावेहि जायते दुःखम् ॥४९५॥





आरोहन् गिरि-शखरं

प्रभो ! जनोऽयं त्वया समवलम्ब्यः ।

जनक-क्रोडाद् बालः

पतति, समन्तात् पितुर्हासः ॥ ४९६ ॥

अहमस्म्यनन्यशरण-

स्त्वं जानीषे जगद्गुरो ! विश्वात्मन् ।

'भजतो भजनं' नियमो-

यथा न भग्नोभवेद् ध्येयः ॥ ४९७ ॥

योग-क्षेम-विधानम्

चिन्त्यं नैव कदापि जनैः स्वार्थम् ।

अनासक्तमिह निरतं

स्मरता कृष्णं हि सत्कार्यम् ॥ ४९८ ॥

श्रीकृष्णः शरणं मे

शरणं ह्लादिनी राधिका शक्तिः ।

शरणं युगल-सुरूपम्

शरणं युगलस्य साम्राज्यम् ॥ ४९९ ॥

कृष्णार्जुन-संयोगो-

धर्म्यः काम्योमनीषिभिर्लोके ।

विजयश्रीसम्भूत्यै

श्रीकृष्ण-स्वरूपता-प्राप्त्यै ॥ ५०० ॥

राधा-माधव-कृपया

ग्रथितार्यापञ्चशती-सुम-माला ।

युगल-मनोहर-मूर्तौ

भव्येयं भ्राजतां निरतम् ॥ ५०१ ॥

॥ इति शम् ॥

(१)

## माधव ! मामुद्धर निजदासम्

माधव ! मामुद्धर निजदासम् ।

शरणागतवत्सल ! शरणं त्वां वन्देजगन्निवासम् ॥

माधव !

गच्छतियो यदुनन्दन ! शरणं त्वां भक्त्या सुख-वासम् ।

मोहनिशां परिहाय सर्वतो लभते भाव-विकासम् ॥

माधव !

तव विशाल-हृदये विश्वात्मन् ! वसति जगत् सविकासम् ।

अणुरयमस्मि जन्तुरेको नहि किंलभेय निजवासम् ? ॥

माधव !

इन्द्रगोपतस्त्विन्द्रं यावद् भुवि जीवा अश्नन्ति ।

निज-कृत-कर्म-फलं, किन्तु नहि भक्तास्तदनुभवन्ति ॥

माधव !

कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुं प्रभवसि नाथ ! विलासम् ।

शरणापन्न-जनोयदीहते पूरयतद् विश्वासम् ॥

माधव ! मामुद्धर निजदासम् ॥



(२)

मानस ! पिबरे श्याम-रसम्

मानस ! पिबरे श्याम-रसम् ।

सच्चिन्मयमतिशय-मधुमयममृतादपि मधुरतरम् ॥

मानस !

ऋषि-मुनि-योगि-यतीन्द्र-भक्तजन-सुभगवरैरसितम् ।

शुक-नारद-सनकादि-सनातन-सिद्धजनैः स्वदितम् ॥

मानस !

अणिम-महिम-लघिमादि-वशित्वं सिद्धिफलं सकलम् ।

अनुभूयापि रसयिता सततं रसयति श्याम-रसम् ॥

मानस !

आपदमस्तकमस्ति सुधारस-घनानन्द-सदनम् ।

सकृदपि पिबति श्याम-रसमेवं तदितरमिह विरसम् ॥

मानस ! पिबरे श्यामरसम् ॥

(३)

## मालति ! अवरोधय निजबालम्

मालति ! अवरोधय निजबालम् ।

त्वं न विश्वसिषि, विहससिसततं, दमयसि नहि निज लालम् ॥

मालति !

बालसखैः सह प्रविशति सद्ने, चोरयते नवनीतम् ।

विभजति, विहसति, क्रीडति, नृत्यति, मनति न तद्विपरीतम् ॥

मालति !

निलीयतेऽस्मत्, किन्तु समीक्षे सर्वं तस्य विधानम् ।

सखि-पीठं सोपानं कुरुते विदलति भाणु-पिधानम् ॥

मालति !

नयते, पातयते नवनीतं लेपयते निज-वदनम् ।

भुङ्क्ते, भोजयते च वयस्यं पलायते सदलम् ॥

मालति !

अवसरमागमनस्य प्रतीक्षे प्रतिदिनमपि सखि ! सद्ने ।

समय व्यतीपातं नहि सहते चेतो मे विधु-वदने ॥

मालति ! मारोधय गोपालम् ।

मालति ! मारोधय निजबालम् ॥

(४)

राधिके ! राधय त्वं मुदा माधवम्

राधिके ! राधयत्वं मुदा माधवम् ।

यं विना गोकुलं नैव संशोभते  
 यं विना गोधनं नैव संवर्द्धते  
 यं विना नैव वृन्दावनं राजते  
 यं विना नैव गोवर्धनं भ्राजते  
 राधिके ! राधयत्वं तुतं माधवम् ।

यामुनं जीवनं नैव मोदायते  
 नैव नैपं सुमं तत्तटे शालते  
 नर्तनं बर्हिणां न प्रमोदायते  
 कूजनं कोकिलानां च वैरायते  
 यं विना जीवनं चापि शून्यायते  
 राधिके ! राधय त्वंहि तं माधवम् ।

ऐन्दवं रश्मिजालंतु ज्वालायते  
 शीतलं चन्दनं किञ्च व्यालायते  
 स्वल्पकालस्त्रुटेरेव कल्पायते  
 वस्तुजातं हितं विपरीतायते  
 यं विना स्पन्दनं नैव संभाव्यते  
 राधिके ! राधय त्वं निजं माधवम् ।

यं हि भक्ता भजन्ते गति-प्राप्तये  
 यत्र युक्ता रमन्ते चिरं शान्तये  
 यत्र वामा अवामा रमन्ते मुदा  
 राधिके ! राधय त्वं तु तम् माधवम्  
 राधिके ! राधय त्वं मुदा माधवम् ॥

(५)

## राधे ! राधय नन्द-कुमारम्

राधे ! राधय नन्द-कुमारम् ।

ब्रज-वनिता-जन-मानस-भावं भावय तं जितमारम् ॥

यद्विधु-वदन-विलोकनमेकं मनुते जीवन-सारम् ।

यन्मुरली-रव-श्रवणमेकलं कुरुते श्रुति-संचारम् ॥

राधे राधय नन्द-कुमारम् ।

विरहानल-चिन्तानिल-संगतिरिह तनुते तनु-तापम् ।

निरवधिराधिरसीमितमर्दनमादधाति संतापम् ॥

राधे ! राधय नन्द-कुमारम् ।

यमुना-कूल-निकुञ्ज-मञ्जु-मधु-समये कृत-बहु-समयम् ।

संस्मारय निर्मोहं मोहनमाचिरं मानस-हारम् ॥

राधे ! राधय नन्द-कुमारम् ।

(६)

माधव ! त्वं नहि याहि विदेशम्

माधव ! त्वं नहि याहि विदेशम् ।

त्वद् विरहे वृन्दावनमेतन्नहि जनयति सुखलेशम् ॥  
माधव !

सर्ज-कदम्बयुतं यमुनातटमतिकुरुते सन्तापम् ।  
सरस-निकुञ्ज-वनं नहि हरते ब्रज-बाला-परितापम् ॥  
माधव !

गतवति भवति भवति ब्रजभूमौ वेदनमयमावरणम् ।  
खग-मृग-कुल-गो-कुलमिह सीदति, त्वमसि यस्य शरणम् ॥  
माधव !

त्वमपि गमिष्यसि नानुभविष्यसि कमपि विशेष-विनोदम् ।  
स्वजने विपदि निमज्जति किं त्वं प्राप्स्यसि तत्र प्रमोदम् ॥  
माधव ! त्वं नहि याहि विदेशम् ॥



(७)

माधव ! स्मरसि न गोकुल-वासम् ?

माधव ! स्मरसि न गोकुल-वासम् ?

मधुवन-कुञ्जभवन-लीलामय-व्रजबाला-परिहासम् ।

माधव !

अधरामृत-पूरित-मुरली-रव-रञ्जित-भाव-विलासम् ।

विविध-भाव-भङ्गिम-चेतोहर-गोपी-गोप-सुलासम् ॥

माधव !

यमुना-कूल-कदम्ब-वृक्षतल-कृत-गोपीजन-हासम् ।

राकापति-कर-रञ्जित-रजनी-रागमयं निजरासम् ॥

माधव !

देवराज-प्रेषित-संवर्तक-वारिवाह-कृत-त्रासम् ।

कर धृतनग ! नगभिदनुज ! स्मरसि न परिहृत-भय निज-दासम् ॥

माधव ! स्मरसि न पूर्व-निवासम् ?

(८)

उद्धव ! याहि, कथय ब्रजबालाम्

उद्धव ! याहि, कथय ब्रजबालाम् ।

परित्यज्य सांसारिक-रागं श्रयतु यमादिक-मालाम् ॥

उद्धव !

फलति विषं खलु राग-लतायां, कुरुतां योग-विधानम् ।

प्रेम रागमतिहाय सन्ततं, तनुतां मुक्ति-वितानम् ॥

उद्धव !

योगपथे चिरशान्तिं लभते, लभते तं परमेशम् ।

शमदमादि-सम्पत्तिं तनुते, सम्बोधय सन्देशम् ॥

उद्धव !

प्रीतिर्भवति वासना भरिता, वासनया संसारः ।

दुःखालय-संसार-मोचनं मनुज-जीवनासारः ॥

उद्धव ! याहि, कथय ब्रजबालाम् ।

उद्धव ! सम्बोधय ब्रजबालाम् ॥

परित्यज्य सांसारिक-रागं श्रयतु यमादिक-मालाम् ॥

उद्धव ! याहि, कथय ब्रज-बालाम् ॥

(९)

## उद्धव ! मधुरापति-सन्देशम्

उद्धव ! मधुरापति-सन्देशम् ।

विरहानल सन्तप्तमानसं रसयति नहि सविशेषम् ।

उद्धव !

श्रोत्रं मधुररसायनमात्रं प्रिय-सन्देशं पातुम् ।

निरतमीहते, मनसि नैव शक्तो योगो ऽस्ति प्रयातुम् ॥

उद्धव !

चित्ते हालाहलति योग-सन्देशो दहति विशेषम् ।

कथय, कथं शृणुयाम विषमयं निष्ठुर-जन-सन्देशम् ॥

उद्धव !

द्वैते योगी भवति, जानतेऽभिज्ञाः प्रेमाद्वैते ।

ब्रजबाला मनुते च विश्वसिति निरतं प्रेमाद्वैते ॥

उद्धव !

कर्णे हृदये चापि मधुस्यति सन्देशेपेयत्वम् ।

मन्यामहे वयं सम्मूढा याहि, कथय योगेशम् ॥

उद्धव ! मधुरापति-सन्देशम्

विरहानल-सन्तप्त-मानसं रसयति नहि सविशेषम् ॥

(१०)

## उद्धव ! स्मारय प्रेम-विधानम्

उद्धव ! स्मारय प्रेम-विधानम् ।

प्रेम-पथिक इह प्रिय-सुख-जनकं तनुते प्रीति-वितानम् ॥

उद्धव !

असि-धारा-संचलनं कठिनं तस्मात् कठिनतरम् ।

प्रेम-मार्गमनुसरन् तपस्वी तपति तपः प्रखरम् ॥

उद्धव !

विहसति शिशौ यथा तज्जननी विहसति, क्रन्दति, क्रन्दति ।

स्वपिति शयाने, क्रीडति गायति, पिबतिपयः संजीवति ॥

खादति, खदति, चलति संचरते तेन, यथा संप्रवदति ।

प्रेम-पथिक-हृदयं तथैव सन्ततमनुभवति च कलयति ॥

उद्धव !

प्रेमास्पद-सुखतः सुखित्वमिति प्रेम-लक्षणं कुरुते ।

विस्मारं विस्मारं स्वसुखं स्वयंच सुसुखं लभते ।

उद्धव !

अणिम-महिम-लघिमादिक सिद्धिं भुक्ति-मुक्ति-समवेताम् ।

तिरस्कृत्य, मनुते प्रिय-सेवा-नीतिं लक्ष्य-विशुद्धाम् ॥

उद्धव !

ब्रजवल्लभएवं जानीते, कुरुते, ललतिच लीलाम् ।

स्मरति, तथापि स्मारयन् श्रावय लीलापुरुषं लीलाम् ॥

उद्धव ! स्मारय प्रेम-विधानम् ।

उद्धव ! स्मारय प्रेम-वितानम् ॥

(११)

उद्धव ! याहि, कथय यदुनाथम्

उद्धव ! याहि, कथय यदुनाथम् ।  
सम्पदर्श्य विहसित-विधु-वदनं कुरुताद् व्रजं सनाथम् ॥  
उद्धव !

त्रुटिरपि युगमानाय कल्पते तद्विरहे ऽति विशेषम् ।  
मधुर-नगर-विहरण-वशतो नहि जानीते परिवेशम् ॥  
उद्धव !

व्रजवल्लभ-विरहानल-तापेनो त्तपते मृदु-हृदयम् ।  
अविरलराधानयन-नीर-धारापि तापयति निरतम् ॥  
उद्धव !

कृत-समयं विस्मृत्य निष्ठुरः कुरुते यत् परिहासम् ।  
स्नेह-हार्द-सद्भाव-रागमतिजहद् याति उपहासम् ॥  
उद्धव ! याहि, कथय यदुनाथम् ॥

## आर्यापञ्चशती-सूक्तानि

### पद्य क्रमांक

भुङ्क्ते त्वघं जनोऽसौ पचति स्वार्थाययः पाकम् ।	१७४
समदर्शियुक्तात्मा स्वाराज्यमधि गच्छति ।	१८८
छिनत्सि तदेव यत्राश्नासि ।	२५४
दष्टा कष्टमश्नुते नूनम् ।	२५९
मधुरास्वादन-समये कुरुते ना न भव्य-चिन्तनम् ।	२६४
बलिना रक्ष्या निरपराधाः ।	२७९
भुङ्क्ते जननी नवजातं पयः पाययितुम् ।	२८८
वीणा-रव-माधुर्यं स्वदते नैव खराय किञ्चन ।	
मरु-भूमिबीज-वपनं किं कस्यापि फलाय कल्पते ।	२९३
हितमपि मधुरं सदेव पेयम् ।	२९५
यश्चतुरो विश्वस्मिन् स एवाश्नुते फलं मधुरम् ।	३०३
कुलमणिरेको दिनमणिवत् प्रकाशयतितमाम् ।	३१०
द्विदलति भूमौ बीजं दातुं लोकाय सच्छायाम् ।	३५१
अनुकूले सति दैवे कालोऽप्यनुकूलतां याति ।	३५५

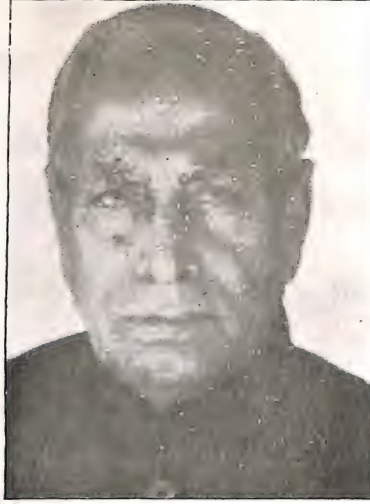


## आर्यापञ्चशती-प्रयुक्तानि गूढार्थक-पदानि

### पद्य क्रमांक

- १ दानीयः = दीयते अस्मै इति दानीयः, दानग्रहण-योग्यः । १
- ९४ कारण-कुलम् = कार्यस्य १. अधिष्ठानम्, २. कर्ता, ३. पृथक् पृथक् करणम्, ४. विविध-व्यापाराः, ५. दैवम् इति पञ्चानां कारणानां समुदायः ।
- ११९ व्यादाय = ओष्ठपुटं पृथक्कृत्य ।
- १३३ नग इतिअत्र सप्तसंख्या-वाचकः ।
- १३९ युक्ताः = अभियुक्ता योगिनः ।
- १५० सोरस्ताडम् = हस्ताभ्यां वक्षस्ताडनपूर्वकम् ।
- २०९ करणम् = असाधारणं कारणम् ।
- २२५ नीरम् = नितराम् ईरयति-क्षिपति-प्रेरयति अर्थात् गतिशीलम् । नयति-प्रापयति स्थानात् स्थानान्तरम् इति नीरम् । निर्गतं रात्-अग्नेरिति नीरम् । निर्गतः रः-अग्निः यस्मादिति नीरम् ।
- २२९ पङ्कजाक्षता = पङ्कजेइव अक्षिणी यस्य स पङ्कजाक्षः पङ्कजाक्षस्य भावः पङ्कजाक्षता ।
- २८६ उरगः = उरसा-वक्षसा-गच्छतीति-उरगः सर्पः ।
- ,, विहगः = विहायसा-गगनेन-गच्छतीति-विहगः ।

- ३०८ युग्यः = युगम्-हल-यान-वहन-समये बलीवर्दस्कन्ध-स्थितं काष्ठम्, तद् वहति इति युग्यः गौः ।
- ३०९ गौर्गलिकः = असंजातस्किणस्कन्धः-वहने असमर्थः गौः ।
- „ गुणेन दोषः = व्याकरणशास्त्रीय गुणेन दुषधातौ उकारस्य गुणेन ओकारात् दोषशब्दः निष्पद्यते ।
- ३४० कर्म-विकर्म = शास्त्रविहित धृति-क्षमादीनां सदाचरणं कर्म-इत्युच्यते । तद्विपरीतं मिथ्या-कपट-स्त्येयादीनां शास्त्रनिषिद्धानां कदाचरणं विकर्म इत्युच्यते ।
- ३४६ नग-वनम् = नगानां पर्वतानां वनम्-समूहः ।
- ४५१ तुलम् = तूलम्-तूर इतिभाषायाम् । 'अपिमाषं मषं कुर्यात् छन्दोभङ्गं न कारयेत्' इतिवचनात् तूलस्थाने तुलम् ।
- ४८४ पलकत्वम् = दण्डात्मक कालस्य षष्टितमो भागः पलकम् । प्रकृते क्षणिकत्वमित्यर्थः ।
- ४९९ शरणम् = 'शरणं गृह-रक्षित्रोरिति कोशात्'-१. गृहम्, आश्रयः, विश्रामस्थानम् । २. रक्षकः, पालकः योगक्षेम-साधकः ।

**AUTHOR*****Professor Dr. Jayamanta Mishra***

B 15th October, 1925 at Dhanga Haripur, Majarahi,  
P. O. Kaluahi, Distt. Madhubani, Bihar.

**I. EDUCATION**

1. B. A. (Hons.), Sanskrit, First Class Ist, P. U. Awarded two Gold medals and a prize, 1950.
2. M. A., Sanskrit, First Class Ist, P. U. Awarded two Gold medals and a prize, 1952.
3. Awarded a Gold medal in I. A. for securing the highest mark in Sanskrit.
4. Ph. D. Bihar University, 1961.
5. Vyakarana Sastri I, and Vyakaranachrya II.
6. Sahitya Sastri I, and Sahityacharya I, Bihar

## II. CAREER

Lecturer, Assistant Professor, Reader and Head, University Professor and head, Senior University Professor and head, Department of Sanskrit, Bihar University.

Professor of Sanskrit (Under Colombo Plan in the Indian Cooperation Mission, Nepal Ministry of External Affairs, Govt. of India from June, 63 to September, 69 and June, 72 to June, 75.

Vice-chancellor, K.S.D.S. University, Darbhanga from July, 80 to November, 85.

## III. PUBLICATION

### (a) Works published—

1. संस्कृत व्याकरणसार, 1950
2. संस्कृत व्याकरणोदय, 1955
3. काव्यात्म-मीमांसा, 1964
4. निबन्ध-कुसुमाञ्जलि, 1970
5. मैथिली नाटक पर संस्कृतक प्रभाव, 1978.
6. अलंकार-प्रकाश, 1980.
7. कविता कुसुमाञ्जलि, 1992.
8. प्रबन्ध कुसुमाञ्जलि, 1995
9. महाकवि विद्यापति, 1996
10. काव्य विच्छिन्ति-मीमांसा, 1998



11. आर्यापञ्चशती, 2001
12. महामानवचम्पू and काव्यस्वरूप-मीमांसा Under publication

More than hundred research papers published in different Research Journals and Felicitation volumes.

**(b) Works edited and published :—**

1. पुष्पचिन्तामणि
2. शैवसर्वस्वसार
3. शैवसर्वस्वसार प्रमाण भूत-पुराण संग्रह
4. अभिलेखगीतमाला
5. अधिकरण कौमुदी
6. विभक्त्यर्थ प्रकाशिका
7. दार्शनिकगद्य संग्रह
8. लघुकथा संग्रह
9. पूजा प्रदीप
10. गूढार्थ दीपिका
11. कृत्य प्रदीप
12. स्मृतितत्त्व समुच्चय
13. छन्दोगाह्निकोद्धार आदि

Edited also the Fifth volume of the History of Sanskrit literature, under a very big project of Uttar Pradesh Sanskrit Sansthan, Lucknow.

#### IV. Honours and Awards :

1. Awarded Sanskrit Ratnam, 1983.
2. Received Kalidasa Puraskara, 1985.
3. Awarded Certificate of HONOUR by the President of India, 1986.
4. Certificate of Honour of Mithila Vibhuti.
5. Received Mithila Vibhuti Samman of Chetana Samiti, Patna, 1991.
6. Received SAHITYA AKADEMY Award 1995.
7. Presented a big Felicitation volume , 1995.
8. Conferred the TWENTIETH Century Award for ACHIEVEMENT by the International Biographical Centre of Cambridge, England.
9. Nominated as an International MAN of the MILLENIUM by the same Centre.
10. Nominated as an International Man of the year (1998) by International Biographical Centre, Cambridge CBUZQP England.

#### V. Membership of Associations, Institutions etc.

1. Member, Executive Committee, All India Oriental Conference.
2. Ex-member, Executive Committee and General Council, Rashtirya Sanskrit Shandhan.
3. Sectional President, Vedic, classical Skt; Philosophy and Religion Sections, All India Oriental Conference.



4. Sectional President, Classical Sanskrit of World Sanskrit Conference, Philadelphia, USA, 1984 and Tenth World Sanskrit Conference, Bangalore, 1997.
5. Vice president, All India Oriental Conference, Pune, 1993.
6. General President, All India Oriental Conference, Calcutta, 1997.
7. Ex-member, Advisory Committee for Establishment of Sanskrit University, Puri.
8. Ex-member of the Sanskrit Advisory Board, Sahitya Akademi, Delhi.

#### VI. Experience :

A. Teaching : 33 years

B. Research Guidance :

More than 20 Scholars have received Ph. D., D. Lit. Vidyavaridhi and Vidya Vachaspati Degrees under the guidance and supervision.

C. Examined more than 300 theses of Ph. D., D. Lits etc.

#### VII. Actively engaged in Reading and writing.

## शुद्धि-पत्रम्

पृ०-पंक्ति सं०	अशुद्धानि	शुद्धानि	पद्य सं०	अशुद्धानि	शुद्धानि
v-7	प्रमो I	प्रमाणों	२५०	द्यौः	द्यौः
vii-5	ग्वृद	रभूद्	२७०	पील्ल	पीत्वा
viii-15	सुलब	सुलभ	२९७	त्वमेव	त्वामेव
xvii-4	निधिमतित्	निमिषतित्	३००	कृष्णसर्पत	कृष्णसर्पतः
xvii-23	गच्छतित्य	गच्छतीत्य	३०७	शुकर	शूकर
xviii-2	भाषात्	भावात्	३२९	कुत्रावधिष्ठसे	कुत्रावतिष्ठसे
xviii-18	वागजन्म	वाग्जन्म	३३५	युङ्क	युङ्क्ते
xix-1	शोधनम्	शोधनम्	३३६	सर्वेः	सर्वैः
xxi-13	एकादश	द्वादश	३५८	भवेन्	भवेन्
xxi-13	राष्ट्रिय	राष्ट्रिय	३७०	रसातलनि	रसातलानि
पद्य सं०			३८७	देवासु-र	देवासुर-
३२	तमासवृत	तमसावृत	४४६	वांमाः	वामाः
५२	भक्त्या	भक्त्या	४८०	आकर्षति	आकर्षति
५७	जयदि	जयति	४९६	गिरिशखर	गिरिशिखर
८०	निरायमाः	निरामयाः	१०३/९	भाणु	भाण्ड
११५	बलेन	बलेन	११०/११	योगी	योगो
१३१	शरणमाम	शरणमाप	११२/४	सम्पदश्य	सम्प्रदश्य
१४८	रूपमक्रूरं	रूपमक्रूरं	११२/९		तापेनोत्तपते
१५१	मायत्	मायात्			
१७६	मुक्तङ्गे	भुङ्क्ते			
१७८	भक्तयेशं	भक्त्येशं			
१९६	भुक्तयै	भुक्त्यै			
१९६	मुक्तयै	मुक्त्यै			
२१०	संवामान	संवासात्			
२३४	अज्ञानादमि	दपि			









मिथिला-मही-मध्य-मधुबनी-मण्डलान्तर्ग-  
तढङ्गाहरिपुर-ग्राम-वास्तव्यः, शाण्डिल्यगोत्रीय-  
सोदरपुर-सरिसब-वंशावतंस-भवनाथ शङ्करान्वय-  
सम्भूत-पुण्यश्लोक-सर्वनारायण- मिश्रात्मजः,

जयमन्तमिश्रः वाराणसीतः, प्रथमश्रेण्यां व्याकरणशास्त्री,  
व्याकरणाचार्यः, विहारतः प्रथमश्रेण्यां साहित्यशास्त्री, साहित्याचार्यः,  
पटना विश्वविद्यालयात् बी.ए. प्रतिष्ठायाम् एम.ए. परीक्षायञ्च  
लब्धस्वर्णपदकः, प्राप्तानेकपारितोषिकः, विहार विश्वविद्यालयेन  
'पी.एच.डी.' त्युपाधिना विभूषितः।

१९५२ तः १९८५ ख्रिष्टाब्दं यावत् विहार विश्वविद्यालये  
व्याख्याता, उपाचार्यः, वरीयोविश्वविद्यालयाचार्यः, संस्कृत-  
विभागाध्यक्षश्च, मध्ये (१९६३-१९६९, १९७२-१९७५) कोलम्बो-  
योजनायाम् विदेशमन्त्रालयेन नियुक्तः भारतीय सहयोग नियोगे, नेपाले  
त्रिभुवन विश्वविद्यालये संस्कृत प्राचार्यः तथा (१९८०-८५)  
कामेश्वर-सिंह दरभङ्गा संस्कृत विश्वविद्यालये कुलपति : महामहिम  
भारत-राष्ट्रपतिपुरस्कार-कालिदास-पुरस्कार-संस्कृतरत्न-मिथिला।  
विभूत्यादि-पुरस्कारै-सम्मानितः, “सारस्वतकुसुमाञ्जलि”:  
नामकाभिनन्दनग्रन्थेनाभिनन्दितः, साहित्यअकादेमीपुरस्कारेण  
सभाजितश्च।

अनेकग्रन्थानां प्रणेता, सम्पादयिता तथा शतशः  
शोधात्मक-निबन्धानां रचयिता, आचार्य मिश्रः साम्प्रतम् दरभङ्गायां  
सारस्वत-सेवायांसंलग्नः।

**इन्दिरा प्रकाशन**  
**दरभंगा**





मिथिला-मही-मध्य-मधुबनी-मण्डलान्तर्ग-  
तढङ्गाहरिपुर-ग्राम-वास्तव्यः, शाण्डिल्यगोत्रीय-  
सोदरपुर-सरिसब-वंशावतंस-भवनाथ शङ्करान्वय-  
सम्भूत-पुण्यश्लोक-सर्वनारायण- मिश्रात्मजः,

जयमन्तमिश्रः वाराणसीतः, प्रथमश्रेण्यां व्याकरणशास्त्री,  
व्याकरणाचार्यः, विहारतः प्रथमश्रेण्यां साहित्यशास्त्री, साहित्याचार्यः,  
पटना विश्वविद्यालयात् बी.ए. प्रतिष्ठायाम् एम.ए. परीक्षायञ्च  
लब्धस्वर्णपदकः, प्राप्तानेकपारितोषिकः, विहार विश्वविद्यालयेन  
'पी.एच.डी.'त्युपाधिना विभूषितः।

१९५२ तः १९८५ ख्रिष्टाब्दं यावत् विहार विश्वविद्यालये  
व्याख्याता, उपाचार्यः, वरीयोविश्वविद्यालयाचार्यः, संस्कृत-  
विभागाध्यक्षश्च, मध्ये (१९६३-१९६९, १९७२-१९७५) कोलम्बो-  
योजनायाम् विदेशमन्त्रालयेन नियुक्तः भारतीय सहयोग नियोगे, नेपाले  
त्रिभुवन विश्वविद्यालये संस्कृत प्राचार्यः तथा (१९८०-८५)  
कामेश्वर-सिंह दरभङ्गा संस्कृत विश्वविद्यालये कुलपति : महामहिम  
भारत-राष्ट्रपतिपुरस्कार-कालिदास-पुरस्कार-संस्कृतरत्न-मिथिला।  
विभूत्यादि-पुरस्कारै-सम्मानितः, "सारस्वतकुसुमाञ्जलि":  
नामकाभिनन्दनग्रन्थेनाभिनन्दितः, साहित्यअकादेमीपुरस्कारेण  
सभाजितश्च।

अनेकग्रन्थानां प्रणेता, सम्पादयिता तथा शतशः  
शोधात्मक-निबन्धानां रचयिता, आचार्य मिश्रः साम्प्रतम् दरभङ्गायां  
सारस्वत-सेवायां संलग्नः।

**इन्दिरा प्रकाशन**  
**दरभंगा**

मुद्रक : लोकवाणी प्रिंटिंग प्रेस, पटना-4 दूरभाष : 674928